निवेदन

स्वतन्त्र भारत के साहित्यिक विकास में भारत की भाषाओं तथा उप-भाषाओं का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज यह अत्यन्त खेद का विषय है कि हमारे देश का अधिकांश पठित जन-समुदाय अपनी प्रादेशिक और समृद्ध जनपदीय भाषाओं के साहित्य से सर्वथा अपरिचित है। कुछ दिन पूर्व हमने 'सरस्वती सहकार' नामक संस्था की स्थापना करके उसके द्वारा 'भारतीय साहित्य-परिचय' नामक एक पुस्तक-माला के प्रकाशन की योजना बनाई और इसके अन्तर्गत भारत की लगभग २६ भाषाओं और समृद्ध उपभाषाओं के साहित्यिक विकास की रूप-रेखा का परिचय देने वाली पुस्तकें प्रकाशित करने का पुनीत संकल्प किया। इस पुस्तक-माला का उद्देश्य हिन्दी-भाषी जनता को सभी भाषाओं की साहित्यिक गति-विधि से अवगत कराना है।

हर्ष का विषय है कि हमारी इस योजना का समस्त हिन्दी-जगत् ने उत्फुल्ल हृदय से स्वागत किया है। प्रस्तुत पुस्तक इस पुस्तक-माला का एक मनका है। आशा है हिन्दी-जगत् हमारे इस प्रयास का हार्दिक स्वागत करेगा। इस प्रसंग में हम पुस्तक के लेखक श्री पूर्ण सोमसुन्दरम् के हार्दिक आभारी हैं, जिन्होंने अपने व्यस्त जीवन में से कुछ अमूल्य क्षण निकालकर हमारे इस पावन यज्ञ में सहयोग दिया है। राजकमल प्रकाशन के सञ्चालकों को भूल जाना भी भारी कृतघ्नता होगी, जिनके सक्रिय सहयोग से हमारा यह स्वप्न साकार हो सका है।

३६७१ हाथीखाना
पहाड़ी धीरज, दिल्ली—६

—क्षेमचन्द्र 'सुमन'

प्रस्तावना

आजकल हिन्दी-भाषियों में भारत की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं, विशेषतः दक्षिण की भाषाओं और उनके साहित्य के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करने की उत्सुकता बढ़ गई है। प्रस्तुत पुस्तक तमिल-भाषा के सम्बन्ध में इस जिज्ञासा को पूरा करने का एक विनम्र-सा प्रयत्न है।

तमिल-साहित्य के सुदीर्घ इतिहास की हल्की-सी रूप-रेखा इस पुस्तक में प्रस्तुत की गई है। उल्लिखित ग्रन्थों और लेखकों का विशद परिचय देना स्थान की कमी के कारण सम्भव नहीं था। फिर भी इसमें गत ढाई हज़ार वर्षों से तमिल-साहित्य में समय-समय पर जो नई-नई प्रवृत्तियाँ प्रबल होती आई हैं, उन पर तथा उनकी पार्श्व-भूमि पर यथासम्भव प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

तमिल के प्राचीन कवियों तथा लेखकों का काल-निर्धारण अत्यन्त कठिन काम है। प्रत्येक कवि के काल के सम्बन्ध में विद्वानों में विभिन्न मत पाए जाते हैं। ऐसे प्रसंगों में मैंने प्रमुख मत-मतान्तरों का उल्लेख करके उनमें से किसी मत को सही मानने के कारण भी प्रस्तुत कर दिए हैं।

इस पुस्तक को लिखने में तमिल-संघम्, नई दिल्ली के पुस्तकालय से मुझे बड़ी सहायता मिली है। जिन अनेक साहित्य-महारथियों के ग्रन्थ-रत्नों से तथ्य संकलित करके मैंने यह पुस्तक तैयार की है, उन सबके नाम यहाँ देना सम्भव नहीं। मैं उन

सब साहित्य-सेवियों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूँ।

विषय बहुत बड़ा है और मेरी सामर्थ्य एवं ज्ञान बहुत ही सीमित, अतएव इस पुस्तक में कितनी ही त्रुटियाँ रही होंगी। पुस्तक लिखते समय अपने लघुत्व का अनुभव मुझे पग-पग पर हुआ। विशेषतः कविताओं का भाषान्तर करने में मुझे बड़ी कठिनाई अनुभव हुई। मूल कविताओं का शब्द-विन्यास, संगीत और मनोहारी भाव-चित्रों का सौन्दर्य मेरे निर्जीव अनुवाद में नष्ट-सा हो गया है। आशा है विज्ञ पाठक इन त्रुटियों के लिए उदारता पूर्वक क्षमा कर देंगे।

अन्त में 'सरस्वती सहकार' के सुदक्ष संचालक एवं साहित्य-सेवी श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' का हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे यह पुस्तक लिखने की प्रेरणा व प्रोत्साहन दिया।

तमिल के लुप्तप्राय प्राचीन ग्रन्थ-रत्नों को प्रकाश में लाने में अपना सारा जीवन होम करने वाले साहित्य-भगीरथ स्व० महा-महोपाध्याय डा० वे० स्वामीनाथ अय्यर की पुनीत स्मृति में अपनी यह तुच्छ रचना श्रद्धा एवं कृतज्ञता पूर्वक भेंट करता हूँ।

यदि इस पुस्तक को पढ़ने के बाद पाठकों के मन में तमिल-साहित्य के सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त करने की किंचित् भी उत्सुकता जागृत हुई तो मैं अपने प्रयत्न को सफल मानूँगा।

—पूर्ण सोमसुन्दरम्

क्रम

प्रारम्भिक परिचय

तमिळ द्राविड़ भाषा-समूह की सर्वाधिक समृद्ध तथा संसार की प्राचीनतम मौलिक भाषाओं में से है। इस समय इस भाषा के जो प्राचीन ग्रन्थ मिलते हैं, उनका रचना-काल ईसा से पूर्व पाँचवीं या चौथी शताब्दी माना गया है। उनसे इस बात का प्रमाण मिलता है कि उससे कई शताब्दी पूर्व ही तमिळ भाषा सुव्यवस्थित एवं सुसंस्कृत हो चुकी थी और उसमें सुनिश्चित साहित्यिक परम्पराएँ स्थापित हो चुकी थीं। सूक्ष्मतम विचारों के अभिव्यंजन तथा स्थूलतम विषयों के वर्णन के लिए उपयुक्त शब्द भाषा-वाङ्मय में प्रचुर मात्रा में पाये जाते थे।

इस सम्बन्ध में विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के विचारों का अवलोकन करने के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि कम-से-कम पैंतीस शताब्दियों से तमिळ भाषा में उच्च कोटि की साहित्य-रचना होती रही है और साहित्य-सृजन की यह धारा, विभिन्न उतार-चढ़ावों के बावजूद अविरल गति से चली आई है।

तमिळ-भाषी—तमिळ-भाषी भारत के आदिवासी थे अथवा बाहर से यहाँ आये, इस प्रश्न पर भी विद्वानों में गहरा मतभेद पाया जाता है। कुछ विद्वानों के अनुसार तमिळ-भाषी, लेमूरिया कहलाने वाले उस विशाल

भू-खण्ड के निवासी थे, जो वर्तमान दक्षिण भारत से अफ्रीका तक फैला हुआ था। बाद में भौगोलिक उथल-पुथल के कारण यह भू-खण्ड जलमग्न हो गया और इस कारण तमिळ-भाषी दक्षिण भारत और श्रीलंका तक सीमित रह गए।

कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार, तमिळ-भाषी प्राचीन क्रीट द्वीप के सुसभ्य आदिम निवासियों के वंशज थे और उन्होंने मध्य एशिया से होकर भारत में प्रवेश किया था। प्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस के अनुसार, क्रीट के आदिवासियों का नाम तमिलाइ था और मध्य एशिया के लिशियन लोग, जो उनके वंशज थे, अपने को त्रिम्मिलि कहा करते थे। क्रीट के आदिवासियों की भाँति प्राचीन तमिळ-भाषी भी मृतकों को विशाल घड़ों में बन्द करके दफ़नाया करते थे। क्रीट, बाबिलोन, ईरान, उत्तरी सिन्ध, पंजाब, दक्षिण भारत आदि स्थानों में प्राप्त इस प्रकार के 'मृतक-घट' एक जैसे लगते हैं, जिससे इस विचार की पुष्टि होती है।

कुछ अन्य विद्वानों का यह विचार है कि द्राविड़ों का जन्म-स्थान पश्चिमी एशिया था और वे सुमेरियन-वंश के थे। जब कि कुछ और विद्वान् उनको चीन से आया हुआ बताते हैं।

चाहे जो हो, मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा के प्राचीन भग्नावशेष, बिलोचिस्तान में तमिळ से मिलती-जुलती ब्राहुई भाषा का आज तक प्रचलन, उत्तर भारत की विभिन्न जातियों में द्राविड़ी भाषाओं का बोला जाना आदि तथ्य इस बात को प्रमाणित करते हैं कि प्रागैतिहासिक (एवं ऐतिहासिक) काल में द्राविड़ जाति के लोग बिलोचिस्तान से कन्याकुमारी तक समस्त भारत में फैले हुए थे।

भाषा—प्रचलित भारतीय भाषाओं में तमिळ ही एक-मात्र ऐसी भाषा है जो संस्कृत के सहारे के बिना हर प्रकार के विचारों का अभिव्यंजन करने में समर्थ है। यद्यपि इस समय प्राप्त होने वाले प्राचीनतम तमिळ-ग्रन्थों की भी रचना आर्य-द्राविड़ संस्कृतियों के सम्मिश्रण के बाद की गई प्रतीत होती है, तो भी उन ग्रन्थों में संस्कृत के शब्द मुश्किल से दो प्रतिशत ही पाये

जाते हैं। यह भी विद्वानों द्वारा मान्य है कि वेदकालीन संस्कृत में तमिळ के कई शब्द मिलते हैं।

यद्यपि अफ्रीका की सोमाली, स्वाहिली-जैसी भाषाओं, ईरान की प्राचीन पहलवी भाषा, प्राचीन मिस्री तथा अरबी में तमिळ से मिलते-जुलते कुछ शब्द पाये जाते हैं, फिर भी विद्वानों के मतानुसार, केवल इस आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि तमिळ इनमें से किसी एक भाषा-समूह की है। चूँकि प्रागैतिहासिक काल से ही समुद्र-पार के देशों के साथ तमिळ-भाषियों का व्यापारिक सम्बन्ध था, इस कारण उपरोक्त भाषाओं और तमिळ में शब्दों का आदान-प्रदान भी कुछ अंश तक हुआ ही होगा।

इन तर्कों से यही निष्कर्ष निकलता है कि तमिळ पूर्णतः स्वतन्त्र, मौलिक तथा द्राविड़ भाषा-समूह की प्रधान सदस्य-भाषा है। संस्कृत, हिब्रू, अरबी, पहलवी, लैटिन एवं ग्रीक-जैसी भाषाओं के समान प्राचीन होते हुए भी तमिळ आज तक प्रचलन में ही नहीं, प्रत्युत विकासशील भी है, यह उसकी अद्वितीय विशेषता है।

लिपि—तमिळ की लिपि के सम्बन्ध में भी विद्वानों में तरह-तरह के मत पाये जाते हैं। कुछ विद्वान् ब्राह्मी लिपि को, जो नागरी लिपि का आधार है, तमिळ लिपि की भी जननी मानते हैं। जबकि कुछ अन्य विद्वान् उसे 'वट्टेळुत्तु' (गोल लिपि) कहलाने वाली पृथक् एवं स्वतन्त्र लिपि से उत्पन्न बताते हैं। प्रसिद्ध विद्वान् श्री रा० राघवय्यंगार का मत है कि तमिळ की आदिम लिपि प्राचीन मिस्री लिपि के समान चित्रमय होती थी और बाद में उसका उत्तरोत्तर विकास होकर वर्तमान स्वरूप बना। तमिळ में लिपि का पर्यायवाची शब्द 'एळुत्तु' है, जिसका मौलिक अर्थ 'चित्रण' है, न कि 'लेखन'। श्री राघवय्यंगार के उपरोक्त निष्कर्ष का यही आधार है।

आर्यों के आगमन के बहुत समय बाद 'ग्रन्थाक्षर' कहलाने वाली नागरी-प्रभावित लिपि को तमिळ में प्रचलित करने का प्रयत्न किया गया, पर वह असफल रहा। इस 'ग्रन्थ' लिपि से तमिळ ने ज, स, ष, ह-जैसे

कुछ ही अक्षर अपनाये हैं।

तमिळ-वर्णमाला में बारह स्वर, अठारह व्यंजन तथा एक 'अर्द्ध-स्वर' (.·.) हैं। इस अर्द्ध स्वर का उच्चारण नागरी के 'ह' और फ़ारसी के 'ग़ैन' के बीच का होता है। तमिळ-वर्णमाला की एक विशेषता यह है कि उसमें महाप्राण व्यंजन होते ही नहीं। अल्पप्राण व्यंजनों का भी काम एक-एक अक्षर से ही लिया जाता है। जैसे 'क' का उच्चारण सन्दर्भानुसार 'क' या 'ग' हो सकता है। तमिळ का एक व्यंजन विशिष्टाक्षर कहलाता है, क्योंकि यह केवल तमिळ में पाया जाता है। इसका उच्चारण फ़ारसी के एक विशिष्ट अक्षर और नागरी के 'प' के बीच का होता है।

तीन 'संघ'—इस बात के विभिन्न प्रमाण उपलब्ध हैं कि तमिळ में सुव्यवस्थित रूप से साहित्य-रचना, लगभग २६०० वर्ष पूर्व आरम्भ हुई। साहित्य-सृजन को प्रोत्साहन देने तथा प्रत्येक रचना को साहित्य की कसौटी पर परखने के लिए उस समय के पाण्ड्य राजाओं के तत्त्वावधान में एक कवि-परिषद् दक्षिण मदुरा में स्थापित की गई। यह परिषद् 'तलैच्चंगम्' (प्रथम संघ) कहलाती है। कहते हैं, अगस्त्य मुनि-रचित प्रथम तमिळ व्याकरण 'अगत्तियम्' इस परिषद् की रचनाओं का लक्षण-ग्रन्थ था। बाद में समुद्र के उमड़ने से दक्षिण मदुरा जल-मग्न हो गया, इस कारण पाण्ड्यों की राजधानी 'कबाटपुरम्' में स्थापित की गई। यहीं पर दूसरी कवि-परिषद् (इडैच्चंगम्) की स्थापना, ईसा से लगभग ४०० वर्ष पूर्व हुई। कुछ समय बाद कबाटपुरम् के भी समुद्र-मग्न हो जाने के कारण, ईसा से पूर्व द्वितीय शताब्दी के आरम्भ में, उत्तर मदुरा (वर्तमान मदुरै) में तीसरी परिषद् स्थापित की गई। यह अन्तिम परिषद्, ईसा की प्रथम शताब्दी तक चली।

कहानी इस प्रकार है कि प्रथम एवं द्वितीय परिषद् के समय की लगभग सभी रचनाएँ, अचानक समुद्र के उमड़ आने से नष्ट हो गईं। द्वितीय परिषद् की एक-मात्र प्राप्य रचना 'तोलकाप्पियम्' नामक व्याकरण-ग्रन्थ है। [illegible] का केवल उल्लेख बाद की रचनाओं में मिलता है

जब कि शेष रचनाओं का नाम-निशान तक बाकी नहीं रहा।

तृतीय परिषद् की भी अधिकांश रचनाएँ कुछ समय पहले तक अलभ्य थीं। यदि स्व० महामहोपाध्याय उ० वे० स्वामीनाथ अय्यर ने अपनी सारी शक्ति एवं समय लगाकर निरन्तर प्रयत्न न किया होता, तो ये भी काल-कवलित हो जातीं। प्राचीन तमिळ-साहित्य के इन दबे हुए रत्नों को प्रकाश में लाकर श्री स्वामीनाथ अय्यर ने तमिळ भाषा की जो महती सेवा की है, वह विश्व-भाषा के इतिहास में अतुलनीय है।

काल-विभाजन—प्राप्य सामग्री के आधार पर तमिळ-साहित्य के क्रमिक विकास को मुख्य रूप से सात काल-विभागों में बाँटा जा सकता है। ये हैं—(१) संघपूर्व-काल, (२) संघ-काल, (३) संघोत्तर-काल, (४) भक्ति-काल, (५) कम्बन-काल, (६) मध्य-काल और (७) आधुनिक काल।

आगे के अध्यायों में इस क्रमिक विकास पर यथा सम्भव प्रकाश डाला जायगा।

: २ :

संघपूर्व-काल

प्रथम एवं द्वितीय तमिल-कवि-परिषदों (संघों) के काल की अधिकांश रचनाएँ क्योंकि अप्राप्य हैं, अतः तृतीय एवं अन्तिम संघ के ही काल को प्रायः 'संघ-काल' कहा जाता है। उससे पहले का काल 'संघपूर्व-काल' के नाम से अभिज्ञात है।

प्रथम संघ के स्थापना-काल अथवा उस समय की रचनाओं के बारे में कोई निश्चित प्रमाण प्राप्त नहीं है। विद्वानों का अनुमान है कि ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में एक पाण्ड्य राजा ने अपनी राजधानी दक्षिण मदुरा में इस कवि-परिषद् की स्थापना की थी। इस परिषद् का उद्देश्य वही था, जो १६३५ ईस्वी में स्थापित 'फ्रेन्च रायल अकादमी' का। आदर्श साहित्य-निर्माण की दृष्टि से ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन करके उनका स्तर निर्धारित करना इस परिषद् का प्रमुख उद्देश्य एवं कार्य था।

प्रथम संघ के प्रधान सदस्य थे अगत्तियनार। ये रामायण-काल के महर्षि अगस्त्य थे अथवा कोई और यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं। तमिळ भाषा में प्रथम व्याकरण लिखने का श्रेय अगत्तियनार को है। यद्यपि यह ग्रन्थ इस समय अप्राप्य है, फिर भी बाद के ग्रन्थों में इसके कुछ उद्धरण मिलते हैं। इन उद्धरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बाद के

व्याकरण-ग्रन्थ (मुख्यतः तोलकाप्पियम्) इसीके आधार पर लिखे गए। शायद यही कारण है कि अगत्तियनार को 'तमिळ का पिता' कहा जाता है।

इस बात का भी उल्लेख बाद के ग्रन्थों में मिलता है कि अगत्तियनार ने नाट्य-शास्त्र पर 'अगत्तियम्' नामक एक ग्रन्थ भी रचा था। परन्तु दक्षिण मदुरा के साथ-साथ यह तथा अन्य सभी ग्रन्थ समुद्र-मग्न हो गए।

द्वितीय संघ—इसके पश्चात् कवाटपुरम् में, जो वर्तमान कुमारी अन्तरीप के दक्षिण में उस स्थान पर बसा था जहाँ अब हिन्द महा सागर लहरें मार रहा है, पाण्ड्य राजाओं ने अपनी नई राजधानी स्थापित की और साथ ही कवि-परिषद् भी। यह परिषद्, 'इडैच्चंगम्' (मध्य संघ) के नाम से विख्यात है। तोलकाप्पियर का अनुपम व्याकरण-ग्रन्थ इसी समय रचा गया था।

'वाल्मीकि रामायण' में कवाटपुरम् का उल्लेख मिलता है। सीता की खोज के लिए वानरों को भेजते हुए सुग्रीव कहता है :

ततो हेममयं दिव्यं मुक्तामणि-विभूषितम्।
युक्तं कवाटं पाण्ड्यानाम् गता द्रक्ष्यथ वानराः॥[1]

(पाण्ड्यों की मोतियों व रत्नों से खचित दैवी छवि वाली स्वर्णपुरी कवाटनगरी पहुँचकर, हे वानरो, वहाँ सीता की खोज करो।)

'कौटिल्य' ने भी अपने अर्थशास्त्र में 'पाण्ड्य कवाट' का उल्लेख करके कहा है कि वहाँ एक विशेष प्रकार का मोती प्रचुर मात्रा में पाया जाता है।

'महाभारत' के द्रोण पर्व में, संसप्तक-वध सर्ग में सागरध्वज नाम के पाण्ड्य राजा का वर्णन है, जो पाण्डवों के पक्ष में कौरवों के विरुद्ध लड़ा था। इस वर्णन में कहा गया है कि "कवाटपुर के ध्वस्त होने के बाद वह··· अपने शेष राज्य को सुदृढ़ करके उस पर शासन करता था।"

इन बातों से यह प्रमाणित होता है कि कवाटपुरी एक जमाने में पाण्ड्यों की समृद्ध राजधानी थी और बाद में वह समुद्र-मग्न हुई।

---

१. किष्किन्धा-काण्ड, सर्ग ४१, श्लोक १६।

कवाटपुरम् में स्थापित द्वितीय तमिळ संघ की रचनाओं में 'मुरुवल', 'शयन्दम्', और 'शेयिर्रियम्' आदि नाटक-ग्रन्थों तथा 'पेरुनारै', 'पेरु कुरुगु', 'इशैनुणुक्कम्' तथा 'ताळवगैयोत्तु' आदि संगीत-शास्त्रों का भी उल्लेख बाद के ग्रन्थों में पाया जाता है। परन्तु दुर्भाग्यवश आज उनके केवल नाम ही शेष रह गए हैं।

तोलकाप्पियम्—तोलकाप्पियर द्वारा रचित व्याकरण-ग्रन्थ 'तोल-काप्पियम्', पाणिनि के संस्कृत-व्याकरण की भाँति एक अद्भुत रचना है। यह न केवल अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से लिखित व्याकरण है, परन्तु तत्कालीन तमिळ-समाज का प्रामाणिक चित्र भी प्रस्तुत करता है। कुछ विद्वान् इसके सूत्रों की आध्यात्मिक व्याख्या भी करते हैं।

तोलकाप्पियर के बारे में यह दन्त-कथा प्रचलित है कि वह महर्षि जमदग्नि के पुत्र और परशुराम के भाई थे। वह तमिळ के प्रथम व्याकरणा-चार्य अगत्तियनार के शिष्य थे, यह प्रायः सभी विद्वान् मानते हैं।

तोलकाप्पियर का व्याकरण तीन विभागों में बाँटा गया है—(१)ऎळुत्तदि-कारम् (अक्षर-विभाग), (२) शोल्लदिकारम् (शब्द-विभाग), तथा (३) पोरुळदिकारम् (विषय-विभाग)। प्रत्येक 'अदिकारम्' या 'विभाग' में व्याकरण के नियम सूत्रों के रूप में दिये गए हैं। ये सूत्र इतनी सुस्पष्ट एवं सुलझी हुई भाषा में बहुत ही थोड़े-से शब्दों में रचे गए हैं कि पढ़कर आश्चर्य होता है। यह इस बात का प्रमाण है कि तमिळ भाषा उस समय पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी और उसमें साहित्यिक परम्पराएँ व शैलियाँ सुनिश्चित रूप से निर्धारित हो चुकी थीं।

'तोलकाप्पियम्' के अक्षर-विभाग में प्रत्येक अक्षर की प्रयोग-विधि, ध्वनि-भेद तथा विशेषताएँ विस्तृत रूप से बताई गई हैं। इसकी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि स्वरों को 'उयिरॆळुत्तु' (प्राण-अक्षर) तथा व्यंजनों को 'मॆय्यॆळुत्तु' (शरीर-अक्षर) बताया गया है। इन नामों का अर्थ-गाम्भीर्य सुस्पष्ट है।

तोलकाप्पियर ने शब्दों को मुख्य रूप से इयल शोल (मूल शब्द),

तिरिशोल (तद्भव या परिवर्तित शब्द), वडशोल (उत्तर के, यानी संस्कृत शब्द) तथा तिशैच्चोल (अन्य भाषाओं के शब्द) आदि चार श्रेणियों में बाँटा है। यह श्रेणी-विभाजन कितना दूरदर्शितापूर्ण था, यह इसी बात से प्रमाणित होता है कि संस्कृत, पहलवी आदि भाषाओं के ही समान प्राचीन होने पर भी तमिळ भाषा आज तक बोली ही नहीं जा रही प्रत्युत उत्तरोत्तर विकास करती जा रही है। यदि पाणिनि की तरह तोलकाप्पियर ने भी भाषा के चारों ओर लौह-भित्ति खड़ी की होती तो तमिळ का भी 'जन-साधारण में प्रचलन शताब्दियों पूर्व ही समाप्त हो गया होता। कोई भाषा तभी विकासशील एवं सजीव बनी रह सकती है जब समय-समय पर उसमें बाहर के शब्द आकर मिलते रहें और बोल-चाल में होने वाले परिवर्तनों के अनुरूप भाषा का स्वरूप समय समय पर बदलता जाय, इस महान् वैज्ञानिक सत्य को आज से ढाई हजार वर्ष पहले ही तोलकाप्पियर ने अनुभव किया, यह तमिळ भाषा के लिए गर्व की बात है।

'तोलकाप्पियम्' के शब्द-विभाग की एक और विशेषता उसके लिंग-सम्बन्धी सूत्र हैं। तमिळ भाषा में शब्दों के लिंग उनकी ध्वनि के आधार पर नहीं, बल्कि अर्थ के आधार पर निर्धारित किये गए हैं। इनमें भी स्त्री-लिंग एवं पुल्लिंग केवल छः बुद्धियों वाले मानवों एवं देवों (आररिवुयिर) पर लागू हो सकते हैं। पशु-पक्षी एवं वृक्ष आदि 'कम बुद्धि वाले' जीवों तथा अन्य निर्जीव वस्तुओं का बोध कराने वाले सभी शब्द नपुंसक लिंग के माने गए हैं।

तोलकाप्पियर ने इस दृष्टि से जीवों को दो श्रेणियों में बाँटा है—एक उयरतिणै (उच्च श्रेणी) तथा दूसरी अहणै (निम्न श्रेणी)। दूसरी श्रेणी में मूर्ख एवं दुष्ट मानवों को भी सम्मिलित किया गया है, क्योंकि तोलकाप्पियर के मत में वे भी पाँच ही बुद्धि वाले जीव हैं।

पोरुळदिकारम् या विषय-विभाग में साहित्य को मुख्य रूप से तीन वर्गों में बाँटा गया है—१. इयल (पाठ्य साहित्य), २. इशै (गेय साहित्य), और नाडगम् (दृश्य साहित्य)। इनमें से केवल इयल पर 'तोलकाप्पियम्' में

विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

'तोल्काप्पियम्' के पोरुळदिकारम् (विषय-विभाग)'पर सैकड़ों टीका-ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं और लिखे जा रहे हैं। इन टीका-ग्रन्थों के भी अनेकों व्याख्या-ग्रन्थ रचे गए हैं। ऐसे व्यापक महत्त्व के विषय पर विस्तृत प्रकाश डालने के लिए न तो इस पुस्तिका में स्थान है, और न वह इसका उद्देश्य ही है।

तिणै—यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि तोलकाप्पियर ने अपने समय की प्रचलित साहित्यिक परम्पराओं एवं रचना-शैलियों को केवल श्रेणीबद्ध ही किया है। इस दृष्टि से उनका व्याकरण उस समय के तमिळ-साहित्य की विशेषताओं एवं समृद्धि की एक झाँकी का भी काम देता है।

'तोल्काप्पियम्' के अनुसार, प्राचीन तमिळ-साहित्य में विषयों को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया गया था—१. 'अहम्' (आन्तरिक या मानसिक) तथा २. 'पुरम्' (बाह्य)। प्रेम, भक्ति आदि हृदय-सम्बन्धी विषय 'अहम्' के अन्तर्गत तथा युद्ध, शासन-विज्ञान, नीति-शास्त्र आदि अन्य सब विषय 'पुरम्' के अन्तर्गत माने जाते थे।

उन दिनों भूमि को मुख्यतया पाँच विभागों में बाँटा गया था—१. कुरिंजि (पहाड़ी क्षेत्र), २. मुल्लै (वन), ३. मरुदम् (उपजाऊ खेत या मैदानी इलाके), ४. नेय्दल् (समुद्रवर्ती क्षेत्र) तथा ५. पालै (ऊजड़ या ऊबड़-खाबड़ इलाके)।

प्राचीन तमिळ-साहित्य में इस भूमि-विभाजन का बहुत बड़ा महत्त्व था। प्रत्येक क्षेत्र की अलग-अलग विशेषताएँ मानी जाती थीं और भावना-क्षेत्र में उनका प्रतीकात्मक महत्त्व माना जाता था। उदाहरणतः वंजि नाम का पुष्प (जो मुल्लै—'वन-प्रदेश'—का विशेष फूल है) चढ़ाई (अभियान) का प्रतीक माना गया, जब कि पालै (ऊबड़-खाबड़ या रेगिस्तान) का विशेष फूल वाहै विजय का प्रतीक समझा गया। प्रेम-काव्य में पालै विरह की पार्श्व-भूमि होती थी।

इस प्रकार के प्रतीक, प्राचीन तमिळ-कवियों के सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण

एवं गम्भीर सहृदयता के द्योतक हैं। विरही को अपना जीवन मरुभूमि-सा प्रतीत होता है, अतएव वह विरह की पार्श्वभूमि बनी। इसी प्रकार, युद्ध में किसी पक्ष के विजयी होने के परिणामस्वरूप विपक्ष के प्रदेश में भारी विध्वंस मचता है, इस कारण मरुभूमि ही विजय की भी पार्श्वभूमि मानी गई।

तोल्काप्पियर ने प्रेम को मुख्यतया दो पर्वों में बाँटा है। ये हैं—कळवु और कप्पु। कळवु प्रेम की प्रारम्भिक स्थिति है, जब एक युवती और युवक एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं, चोरी-छिपे या प्रकट रूप से मिलते हैं और एक-दूसरे को परखते हैं। जब यह प्रेम विकसित होता है और प्रेमी-प्रेमिका विवाह कर लेते हैं, तब 'कप्पु' कहा जाता है। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन तमिळ-समाज में, लड़के-लड़कियों को विवाह से पूर्व एक-दूसरे से स्वतन्त्रता पूर्वक मिलने दिया जाता था और बाद में बड़ों की सहमति से (या उसके बिना भी) उनका विवाह होता था।

मध्य संघ का अन्त—ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी के आरम्भ में अचानक समुद्र उमड़ आया और उसने कवाटपुरम् तथा उसके आस-पास के क्षेत्रों को जल-मग्न कर दिया। पाण्ड्यों की स्वर्णिम राजधानी कवाटपुरम् बहुमूल्य सम्पत्ति तथा अमूल्य साहित्य-रत्नों समेत समुद्र के गर्भ में विलीन हो गई। इस घटना की ऐतिहासिकता श्रीलंका के बौद्ध इतिहास 'राजावली' में वर्णित घटनाओं तथा अन्य विवरणों से प्रमाणित होती है।

अन्तिम संघ (कवि-परिषद्) के एक सदस्य पनम्बरनार ने अपनी एक कविता में समुद्र के उमड़ने से धीरे-धीरे जल-मग्न होने वाले पर्वत का सजीव वर्णन प्रस्तुत किया है। कवि कहते हैं : **"समुद्र-रानी, लहरों के नूपुर पहने, कल्लोल करती हुई, पर्वत-शिखर पर प्रचण्ड नृत्य करने लगी, जिसके वेग से पर्वत का अचल शरीर भी सिहर उठा।"**

इससे यह अनुमान लगाया गया है कि पनम्बरनार ने समुद्र का उमड़ना अपनी आँखों से देखा होगा। इस आधार पर यह समझा जाता है कि कवाटपुरम् के जल-मग्न होने के कुछ ही समय बाद उत्तर मदुरा में

पाण्ड्यों की नई राजधानी एवं तमिळ-कवियों की तीसरी परिषद् स्थापित हो गई होगी। इसके अनुसार तीसरी कवि-परिषद् (कडैच्चङ्गम्) का स्थापना-काल, ईसा से पूर्व १५० वर्ष के आस-पास था। यही समय तमिळ में संघ-काल कहलाता है।

: ३ :

संघ-काल

अन्तिम तमिळ-कवि-परिषद् की स्थापना, ईसा से लगभग १५० वर्ष पूर्व हुई और ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्त तक वह जारी रही। यद्यपि इस परिषद् की भी रचनाओं में बहुत-सी अब अलभ्य हैं, फिर भी महामहोपाध्याय स्वामीनाथ अय्यर-जैसे साहित्य-भगीरथों के अथक प्रयास के फल-स्वरूप बहुत-सी रचनाएँ प्रकाश में लाई गई हैं। ये हैं—एट्टुत्तोगै (आठ संग्रह), पत्तुप्पाट्टु (दस कविताएँ) और पदिनेण् कीळ कणक्कु (अठारह लघु कविता-संग्रह)।

संघ-काल के जिन ग्रन्थों का उल्लेख बाद के ग्रन्थों में किया गया है (परन्तु जो आज अप्राप्य हैं), वे अधिकतर संगीत और नाटक-कला से सम्बन्धित शास्त्र-ग्रन्थ मालूम पड़ते हैं। इनमें से कुछ के नाम हैं, 'कूत्तु' (नाटक), 'वरि' (एक विशेष प्रकार के गीत), 'शीरिशै' (लघु-संगीत) तथा 'पेरिशै' (बृहत्-संगीत)।

एट्टुत्तोगै—'एट्टुत्तोगै' आठ भिन्न-भिन्न कविता-संग्रहों का सामूहिक नाम है। ये संग्रह हैं—(१) नरिणै, (२) कुरुन्दोगै, (३) ऐंगुरुनूरु, (४) पदिरुप्पत्तु, (५) कलित्तोगै, (६) परिपाडल, (७) नेडुन्दोगै और (८) पुरनानूरु। इनका अत्यन्त संक्षिप्त विवरण ही यहाँ दिया जा सकता है।

काव्य को बहुत ही महत्त्वपूर्ण धर्म-ग्रन्थ मानते हैं।)।

पदिनेरण् कीळ् कणक्कु वस्तुतः अठारह सूक्ति-ग्रन्थों का सामूहिक नाम है। विश्व-विख्यात महाकवि तिरुवल्लुवर द्वारा रचित तिरुक्कुरळ् इनमें प्रमुख है।

संघकालीन काव्यो की सबसे बड़ी विशेषता, आश्चर्यजनक शब्द-संयम तथा वर्णनो की सजीव यथार्थता है। अत्युक्ति एवं अतिशयोक्ति इन कविताओ मे बहुत ही कम मिलती है। संघकालीन कवियों ने बाह्य जगत् के विभिन्न दृश्यो, घटनाओ एवं परिवर्तनों का जितना विशद पर्यवेक्षण किया हैं, मानसिक जगत् की विभिन्न परिस्थितियो, भाव-परिवर्तनों एवं उद्गारो-उमंगों, आहो-कराहो का भी उतना ही गूढ़तम अन्वेषण किया है। इससे भी बड़ी विशेषता यह है कि प्रेम-काव्य मे बाह्य जगत् का वर्णन आन्तरिक जगत् की प्रतिच्छाया एवं प्रतीक के रूप मे इतनी कलाकारिता के साथ किया गया है कि ये कविताएँ काव्य-रसज्ञो के लिए शाश्वत आनन्द का स्रोत बनी हुई है।

संघकालीन कवियो ने किसी भी उल्लेखनीय दृश्य को अछूता नहीं छोड़ा है। शत्रु-सेना के मध्य, सूँड मे ध्वजा लिये, मस्त चाल से बेधड़क चलने वाले गज-हस्ती का वर्णन देखिये :

"यह हाथी, जल बहाने वाले युद्ध-पोत की भाँति, बहुत-सी तारिकाओं मे घिरे चन्द्रमा की भाँति, खड्गधारी सैनिकों रूपी मत्स्य-समूह मे घिरा हुआ, मदमस्त हो, अन्धाधुन्ध बढ़ता चला जा रहा है।......"[1]

समुद्र-तट पर सर्यान्त का, महाकवि नक्कीरर का यह वर्णन कितना वास्तविक और कितना मनोहारी है :

हल्की-सी हरीतिमा ने युक्त परों वाले बगुलों की कतारें, रक्तिम आकाश में उड़ रही हैं, मानो भगवान् कार्तिकेय के वक्षस्थल पर के मुक्ताहार हों। बहु किरण-राजियाँ छिटकाने वाला सूर्य धीरे-धीरे समय-

1. 'पुरनानूरु', कविता १३।

सीमा पार करके पश्चिम में अस्त हुआ।"[1]

कवि नल्लन्दुवनार का यह सायंकाल-वर्णन भी साहित्य-निकुञ्ज का एक सुवास-भरा अमर सुमन है :

"विशाल जगत् को आलोकित करने वाली अपनी बहु किरणों के मुख से निर्दयी सूर्य ने मानो दिन को निगल लिया तो भगवान् विष्णु के वर्ण की भाँति अँधेरा छाने लगा। पर सुन्दर चन्द्रमा इसे सह न सका और अपनी धवल किरणों से अन्धकार-समूह को भगा दिया। गोल-गोल डण्ठलों वाले कमल-जैसे फूल भोग-सन्तृप्त वनिताओं के नेत्रों के समान मिंच गए। अपनी प्रशंसा सुनने वाले महापुरुषों के समान वृक्षगण सिर एक तरफ़ को झुकाकर खड़े हो गए। झुरमुटों में छोटी श्वेत कलियाँ खिल उठीं, मानो विरहिणियों को देखकर हँस रही हों। नन्हीं बाँसुरियों की भाँति तान छेड़ते हुए, भ्रमर उन पर मँडराने लगे। पंछी अपने बच्चों की याद करके नीड़ों में लौटे। दुधारू गायें अपने बछड़ों को देखने की चाह से झुण्ड-के-झुण्ड गाँव लौटीं। विप्र-गण अनुष्ठानों के साथ सन्ध्या का स्वागत करने लगे। गृहिणियाँ दीप जलाने लगीं। सखी, इस वेला को भ्रम से लोग सायंकाल कहते हैं, जब कि वास्तव में यह वह प्रभात है जो शंख की चूड़ियाँ पहनी हुई (विरहिणी) तरुणियों के प्राण-पुष्प को विकसित कराता (अर्थात् उनके प्राणों को शिथिल बनाता) है।"[2]

पर्वतीय वनों की एक अद्भुत घटना का यह वर्णन महाकवि कपिलर द्वारा रचित 'कुरिंजिक्कलि' में पाया जाता है :

"सुन्दर परों वाला, काला रत्न-सा चमकने वाला यह उद्भ्रान्त भ्रमर अपने रस-स्रोत सुमनों को छोड़कर, वन के उस स्थान पर भटक आया, जहाँ मदजल बहाने वाला, ऊपर की ओर उठे हुए रजत दन्त-युगल से युक्त हस्तिराज, सुन्दर लकीरों से शोभित शरीर वाले व्याघ्र

१. 'अगनानूरु', कविता १२०।
२. 'कलित्तोकै', कविता ११६।

के साथ भिड़ा हुआ था। तब वह भ्रमर कभी बाघ के सबल शरीर पर मँडराता—इस भ्रान्ति से कि वह 'वेंगै' के फूलों से लदी टहनी है। फिर कभी वह हाथी के उन्नत मस्तक पर स्वभाव से बनी हुई, मद-जल से सनी बिन्दियों को मधुमय पुष्प समझकर उस पर आकर मँडराता।"[1]

यह बाह्य वर्णन प्रतीकात्मक है। भ्रमर वह प्रेमी है जो प्रेमिका रूपी मधुमय सुमन को छोड़कर आखेट में रस लेने की इच्छा से वन में भटक रहा है।

संघकालीन कवियों की सहृदय दृष्टि से निर्धन श्रमिकों की दयनीय दशा भी छिपी नहीं रहती। उदाहरणतः कवि शान्तन्दैयार की एक विख्यात कविता की इन पंक्तियों को देखिए :

"गाँव में उत्सव है, पर घर में पत्नी गर्भिणी है। ऊपर से वर्षा हो रही है। इस कारण वह श्रमिक जल्दी-जल्दी चारपाई बुन रहा है, बड़ी तेज़ी से।..."[2]

एक ओर उत्सव में भाग लेने की इच्छा, दूसरी ओर गर्भिणी पत्नी की चिन्ता। सो श्रमिक चारपाई ठीक करके उस पर पत्नी को लिटाने के बाद उत्सव में जाना चाहता है। पत्नी-प्रेम और तमाशा देखने की चाह के बीच संघर्ष का कितने सरल ढंग से चित्रण किया गया है!

संघकालीन कविताओं में तत्कालीन जनता का जीवन-प्रेम, मणि में चमक की भाँति झलकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सुरुचिपूर्ण भोगवाद उन दिनों चरम विकास पर था। कहीं मधु की धारा छलक निकलती है :

"भरे हुए प्राचीन कलश की मधु का गुण गाकर.."[3]

"हमें स्वादभरी गाढ़ी मधु देकर

---

१. 'कुरिंजिक्कलि', कविता ४६।

२. 'पुरनानूरु', कविता ८२।

३. वही, कविता २६७।

स्वयं अल्प स्वाद की हल्की मधु पीने वाला···"[1]

"मधु का यश गा, मधु का यश गा,

प्रभात वेला में पीकर नशे में मस्त

सोया हुआ···"[2]

कहीं मांसाहार का रसास्वादन मिलता है :

"अतिथियों के लिए मधु-कलश का मुँह खुलता, मांसल बकरा मारा जाता, मांस मिला हुआ, घी से सना, स्वादिष्ट भोजन बनता···"[3]

स्त्रियाँ पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं। कहीं वे उस वीर माता के रूप में सामने आती हैं, जिसके बारे में कवि कहता है :

"मत्स्य-भक्षी बगुले के निचले पर के समान पके हुए श्वेत केशों वाली वृद्धा ने जब सुना कि उसका पुत्र युद्ध में हाथी को मारकर खेत रहा, तो वह पुत्र-जन्म के समय से कहीं अधिक मुदित हुई। उसके आँसू भी पर्वत-शिखर पर बरसने वाली वर्षा की बूँदों से कहीं अधिक थे।"[4]

कहीं वे औवै-जैसी कवित्वपूर्ण राजदूत के रूप में विपक्षी राजा के शस्त्र-बल के दर्प को मीठे कटाक्ष द्वारा चूर करती हुई प्रकट होती हैं :

"यहाँ तो, मोर-पंखों से सजे, मालाओं से भूषित, सुन्दर कारीगरी से युक्त, घी लगे हुए मूठों के साथ, विशाल, सुरक्षित शस्त्रागार में खूब सजाकर रखे हुए हैं (ये शस्त्र)। परन्तु वहाँ तो, वहाँ तो, शत्रुओं पर प्रहार करने के कारण टूटी नोकों के साथ, लुहार की क्षुद्र कुटिया में पड़े हैं···हमारे राजवर्य के नुकीले भाले।"[5] (अर्थात् तुम्हारे

---

१. 'पुरनानूरु', कविता २९८।

२. वही, कविता ३१६।

३. वही, कविता १३६।

४. वही, कविता २७७।

५. वही, कविता ९५।

सैनिक अनभ्यस्त हैं, जब कि हमारे लोकप्रिय राजा के सैनिक मँजे हुए हैं।'

फिर कहीं, भूतपाण्डियन की रानी पेरुङ्गोप्पेण्डु की भाँति, पति के मरने पर उसके साथ सती होने वाली साध्वी वीरांगनाओं को हम देखते हैं, जो मना करने वाले गुरुजनों से कहती है :

"हे गुरुजनो, हे गुरुजनो !
'चलो' न कहकर 'न जाओ' कह रोकने वाले
षड्यन्त्रकारी हे गुरुजनो !...
मेरे लिए तो, विशाल भुजाओं वाले
मेरे पति की यह चिता, विकसित कमल के
फूलों से युक्त सुन्दर, शीतल सरोवर के
समान सुखद होगी।"[1]

संघकालीन कवियों और उनकी कविताओं की विस्तृत चर्चा यहाँ सम्भव नहीं। फिर भी कुछ प्रमुख कवियों का परिचय देना आवश्यक है।

औवैयार संघ-काल की कवयित्रियों में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं। विद्वानों का मत है कि इस नाम की दो या तीन कवयित्रियाँ विभिन्न समयों में हुई हैं। औवैयार शब्द का वाच्यार्थ है 'वृद्धा जी'। औवैयार को अपने समय के सभी राजाओं एवं कवियों का हार्दिक सम्मान प्राप्त था। अनुमान किया जाता है वह आजीवन अविवाहित रहीं। उनकी रचनाएँ 'पुरनानूरु,' 'कुरुन्दोगै', 'नरिणै', तथा 'अगनानूरु' आदि संग्रहों में पाई जाती हैं।

निर्भीकता और सरल-हृदयता औवैयार की विशेषताएँ हैं। अदियमान् नाम के राजा के साथ उनकी घनिष्ठ मैत्री थी। अदियमान् की प्रशंसा में उन्होंने कई सुन्दर कविताएँ रची हैं। जैसे :

"विशालकाय हाथी जब जलाशय में पड़ा रहता है, तब गाँव के छोटे बालक भी उसके रजत-दाँतों को धोते हैं। (और वह प्यार के साथ उनकी नटखटी सह लेता है।) उसी प्रकार तुम भी हमारे लिए

---

1. 'पुरनानूरु', कविता २४६।

प्यारे और मीठे हो। परन्तु अपने शत्रुओं के लिए तो तुम उतने ही विकराल हो जितना कि मतवाला हाथी।"[1]

एक बार जब वह अदियमान के यहाँ गईं, तो उसने स्वयं उनकी अभ्यर्थना न करके, भृत्य के हाथ पुरस्कार भिजवाया। स्वाभिमानिनी औवै इस उदासीन भाव को सह न सकीं और तत्काल यह कहकर चली गईं कि:

"द्रुतगामी अश्वारोही वीर अदियमान अपने को भूल गया क्या? मुझे भूल गया क्या? संसार में विवेकशील यशस्वियों का अभाव तो नहीं हो गया है। हम जिस दिशा में जायँगे, वहीं हमारा स्वागत होगा।"[2]

बाद में जब वही अदियमान खेत रहा, तो औवैयार आर्त्त स्वर में पुकार उठीं:

"...उसकी छाती पर नहीं लगा भाला, वह तो सुन्दर शब्दों से काव्य रचने में कुशल कवियों की जिह्वा पर लगा।...अब तो न कविता कहने वाले रह गए हैं, न उनको पुरस्कृत करने वाला ही कोई रह गया है।..."[3]

औवैयार केवल राजाओं का ही गुण-गान नहीं करती थीं, बल्कि जन-कवयित्री भी थीं। उनकी सरलता एवं उदार-हृदयता के बारे में अनेकों दन्तकथाएँ प्रचलित हैं।

कपिलर संघ-काल के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। वह संस्कृत और तमिळ के पारंगत विद्वान् थे। कहा जाता है, बृहस्त नाम के आर्य राजा को तमिळ-काव्य की खूबियों व सौन्दर्य से परिचित कराने के लिए उन्होंने 'कुरिंजिक्कलि' नामक कविता-संग्रह की रचना की। कहते हैं, इसमें सैकड़ों पुष्पों के वर्णन को पढ़कर बृहस्त विस्मित रह गया और बोला: "तमिळ भाषी भी कितने अद्भुत प्रकृति-प्रेमी हैं, जो इतने विभिन्न पुष्पों का

1. 'पुरनानूरु', कविता ४४।
2. वही, कविता २०६।
3. वही, कविता २३५।

उन्होंने नामकरण ही नहीं किया, अपितु उनमें से प्रत्येक की विशेषताओं का बारीकी से अध्ययन भी किया है।"

कपिलर पारि नाम के काव्य-मर्मज्ञ, दानवीर पर्वतीय राजा के अन्यतम मित्र थे। पारि की दानवीरता की प्रशंसा में रचित उनकी यह कविता विख्यात है :

"पारि, पारि कहकर कई प्रकार से गुण गा, एक ही व्यक्ति की प्रशंसा करते हैं वाक्-चातुरी से युक्त कविगण। आखिर पारि अकेला ही तो नहीं है, वर्षा भी तो है संसार की रक्षा करने वाली।"[1]

पारि के देहान्त के बाद, उसके पर्वत को सम्बोधित करके कपिलर ने जो कविताएँ रची हैं, वे हृदयस्पर्शी वेदना से ओत-प्रोत हैं। पारि की दो कन्याओं का विवाह कराने के लिए उन्होंने जो परिश्रम उठाया, उसका वर्णन मन को द्रवित करने वाला है। पर्वतीय दृश्यों—घटनाओं का वर्णन करने में कपिलर सिद्धहस्त हैं।

नक्कीरर अन्तिम तमिळ-कवि-परिषद् के अध्यक्ष थे। वह अत्यन्त ओजस्वी कवि एवं निर्भीक आलोचक थे। यह पहले ही बताया जा चुका है कि तिरुमुरुगार्रुप्पडै और नेडुनलवाडै नाम के ग्रन्थ नक्कीरर द्वारा रचित हैं। अन्य कविता-संग्रहों में भी उनकी कविताएँ पाई जाती हैं। प्राकृतिक दृश्यों का सजीव यथार्थ चित्रण तथा भाषा-सौष्ठव उनकी विशेषताएँ हैं।

परणर संघ-काल के एक ओजस्वी एवं प्रभावशाली कवि माने जाते हैं। वह कपिलर के अन्यतम मित्र थे और उन्हीं के समान लोकप्रिय भी थे। उनकी रचनाएँ 'पुरनानूरु', 'अगनानूरु', 'नट्रिणै', 'कुरुन्दोगै' आदि में पाई जाती हैं। परणर तमिळ-भाषी प्रदेश के सभी राजाओं—कवियों के मित्र थे। कई युद्धों का उन्होंने प्रत्यक्ष निरीक्षण किया था, अतः युद्ध तथा युद्ध-क्षेत्र के वर्णन में वह सिद्धहस्त थे। एक बार चेर एवं चोल राजाओं के बीच इतना

1. 'पुरनानूरु', कविता १०७।

भीषण युद्ध हुआ कि दोनों राजा तथा उनकी सेनाओं के अधिकांश वीर खेत रहे। इस युद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद युद्ध-क्षेत्र का वर्णन करते हुए परणर कहते हैं :

"कितने ही हाथी शरों से हताहत हो रण-क्षेत्र में पड़े हैं। फिर कभी नहीं लड़ेंगे ये। कितने ही युद्धों में विजय का यश प्राप्त किये हुए अनेकों शक्तिमान अश्व, अपने वीर आरोहियों-समेत ये पड़े हैं। कितने ही समर्थ रथी खाल की ढालों से आँखें ढककर मरे पड़े हैं। रोमयुक्त खालों से कसकर बँधे हुए कितने ही नगारे इधर-उधर अनाथ-से पड़े हैं, बजाने वालों के अभाव में। और राजा लोग भी, चन्दन लगी छातियों पर भाले लगने के कारण युद्ध-स्थल में ये निर्जीव पड़े हैं। अब क्या होगा''इनके सुन्दर दृश्यों वाले विशाल राज्यों का हाल ?"[1]

कणियन पूङ्गुन्रनार संघ-काल के एक विचारशील कवि हैं। इनकी दो ही कविताएँ इस समय उपलब्ध हैं, जो 'पुरनानूरु' और 'नर्रिणै' में पाई जाती हैं। 'पुरनानूरु' में संकलित इनकी निम्न कविता विश्व-साहित्य का एक अमर सुवासयुक्त सुमन है :

"सभी हमारे गाँव हैं, सभी हमारे बान्धव। बुराई और भलाई दूसरों की दी हुई नहीं होतीं। पीड़ा और उसकी शान्ति भी उसी प्रकार की हैं। मृत्यु भी कोई नई बात नहीं है। अतः हम जीवन को सुखमय मानकर मुदित भी नहीं होते, न क्रोध के साथ उसे दुःखमय कहते हैं। बिजलियाँ कड़काते हुए बादल जब शीत जल-कणों की वर्षा करते हैं, तब उससे अपने को सँभाल न सकने के कारण पत्थर को हिलाती हुई कल्लोल के साथ बहने वाली नदी के प्रवाह में अवश बहाये जाने वाले काठ के टुकड़े की तरह जीव भी विधि के प्रवाह में अवश होता है, यह सत्य विवेकशील विद्वानों के कथनों से हमने जान लिया है। अतएव, महत्ता को प्राप्त बड़ों को देखकर हम विस्मय नहीं करते। छोटों की

---

1. 'पुरनानूरु', कविता ६२।

अवहेलना तो इतनी भी नहीं करते।"[1]

'तिरुवल्लुवर' और 'तिरुक्कुरल्'

'तिरुक्कुरळ्', संघ-काल की सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाती है। विद्वानों का मत है कि विश्व-साहित्य में कोई भी एक ऐसा ग्रन्थ नहीं जो 'तिरुक्कुरळ्' की समता कर सकता हो। लैटिन, संस्कृत, फ्रेञ्च, अंग्रेजी, जर्मन तथा विभिन्न अन्य भाषाओं में इसके सैकड़ों अनुवाद हो चुके हैं। गत दो हजार वर्षों से 'तिरुक्कुरळ्' पर सैकड़ों टीका-ग्रन्थ रचे जा चुके हैं, जिनमें परिमेलळगर की टीका विख्यात है। 'तिरुक्कुरळ्' की सर्वकालीन लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इसके रचना-काल से लेकर आज तक के इन २२०० वर्षों में कोई भी समय ऐसा नहीं हुआ जब 'तिरुक्कुरळ्' प्रचलन में नहीं रहा हो—लुप्त हुआ हो। जब कि संघ-काल एवं संघोत्तर-काल की अनेकों रचनाएँ लुप्त या नष्ट हो गई थीं।

आश्चर्य की बात यह है कि इस अद्वितीय ग्रन्थ के रचयिता तिरुवळ्ळुवर अन्तिम तमिळ-कवि-परिषद् के सदस्य तक नहीं थे। कहानी इस प्रकार है—एलेलशिंगन नाम के आयात-निर्यात-व्यापारी के पुत्र को शिक्षा देने के लिए तिरुवळ्ळुवर ने अपनी सूक्तियों की रचना की। बाद में उन सूक्तियों को संकलित करके उन्होंने कवि-परिषद् के सम्मुख उस संग्रह को प्रस्तुत किया, जिससे वह साहित्य के रूप में स्वीकृत हो जाय। 'तिरुक्कुरळ्' की रचना-शैली, भाषा एवं छन्द इतना मौलिक था कि कवि-परिषद् के सदस्य पहले उसकी महत्ता ठीक से आँक नहीं सके। बाद में जब उसकी सूक्तियाँ उनकी समझ में आईं तो परिषद् के प्रत्येक सदस्य ने उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की, इत्यादि।

'तिरुक्कुरळ्', दो-पंक्तियों वाले 'कुरळ् वेण्पा' के छन्द में रचित है। इसे दस-दस श्लोकों के १३३ अध्यायों में विभाजित किया गया है। समूचा ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है—१. अरत्तुप्पाल (धर्म-विभाग), २. पोरुळ्पाल

1. 'कुरल-कूट', कविता १६२।

(अर्थ-विभाग) तथा ३. कामत्तुप्पाल (काम-विभाग)।

इस प्रकार इस छोटे-से आकार के ग्रन्थ में धर्म-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र और काम-शास्त्र का सम्पूर्ण सार भरा हुआ है। इसकी सर्वकालीन एवं सार्वजनीन उपयोगिता और प्रभाव का प्रमाण यह है कि जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव एवं ईसाई विद्वान् यह प्रमाणित करने के निरन्तर प्रयत्न में सदियों से लगे हुए हैं कि तिरुवल्लुवर उन्हींके धर्मावलम्बी थे और उन्हींके धार्मिक सिद्धान्त 'तिरुक्कुरळ्' में प्रतिपादित किये गए हैं।

तिरुवल्लुवर की जाति, काल एवं व्यवसाय के बारे में भी विद्वत्-जगत् में घोर वाद-विवाद सदियों से चला आ रहा है। दन्तकथानुसार वह आदि-नामक हरिजन-महिला और भगवन नाम के ब्राह्मण के पुत्र थे, पर विद्वान् इस कथा को निराधार बताते हैं। 'तिरुक्कुरळ्' में धर्म की जो गूढ़तम विवेचना की गई है, कुशलतम शासन-विज्ञान एवं व्यापक व्यावहारिक ज्ञान का जो परिचय मिलता है तथा सुखद दाम्पत्य-प्रेम का जो काव्यमय चित्रण है, उन सबके आधार पर विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि तिरुवल्लुवर शासन के उच्च पदाधिकारी रह चुके होंगे, उन्होंने सुखद गार्हस्थ्य जीवन बिताया होगा और संस्कृत एवं तमिळ के शास्त्र-ग्रन्थों का विशद एवं गम्भीर अध्ययन किया होगा। अपने जीवन-भर के अध्ययन, मनन एवं अनुभव को इस सहृदय मनस्वी ने सरल तथा सुबोध भाषा में, सुपाठ्य छन्द में आश्चर्य-जनक शब्द-संयम के साथ संचित करके 'तिरुक्कुरळ्' के रूप में विश्व को भेंट किया है।

तिरुवल्लुवर विश्व के सृष्टि-सम्बन्धी इस वैदिक सिद्धान्त को मानते हैं :

"सभी अक्षर-राशियाँ अकार से आरम्भ होती हैं। समस्त विश्व का आरम्भ आदि पुरुष भगवान् से ही है।"

पुनर्जन्म एवं कर्म-सिद्धान्त भी उनको मान्य हैं :

"जन्म-महा सागर को वे ही पार कर सकते हैं, जो ईश्वर की शरण लेते हैं, अन्य नहीं।"

"आरम्भ में (पूर्वजन्म में) औरों की हानि की जाय तो अन्त में

अपनी हानि स्वभावतः होगी।"

आश्रम-व्यवस्था भी उनको मान्य है :

"गृहस्थ वह है जो स्वभावतः अपने अन्य तीनों (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी) के धर्म-कार्य में सहायक हो।"

अहिंसा, सत्य एवं शील को तिरुवळ्ळुवर सर्वाधिक महत्त्व देते हैं :

"हवि की वर्षा करके हज़ार यज्ञ रचने से एक जीव का प्राण न हरना कहीं अच्छा है।"

"सत्य से बड़ी तपस्या कोई नहीं।"

"स्त्री से महान् और कौन है, यदि वह शील-रूपी सुदृढ़ शक्ति से युक्त हो तो?"

"पराई स्त्री पर दृष्टिपात न करना महान् शौर्य है···।"

आदर्श गृहस्थ-जीवन के लक्षण इन थोड़े-से शब्दों में कितने ओजपूर्ण ढंग से बताये गए हैं :

"गृहस्थ-जीवन प्रेम और दया से युक्त हो, तो वही संस्कृति है, वही जीवन की सार्थकता है।"

कभी-कभी वह मृदु-भाषी उपदेशक, चुभते हुए कटाक्ष से भी काम लेता है :

"अशिक्षित भी बहुत भले हैं, यदि शिक्षितों के सम्मुख मुँह न खोलें तो।"

'तिरुक्कुरळ्' का पोरुळ्पाल्, कौटिल्य के विख्यात अर्थ-शास्त्र की टक्कर का है। राजाजी-जैसे राजनीतिज्ञ इससे प्रभावित हुए हैं। राजाजी ने अंग्रेज़ी में इसका सुन्दर भावानुवाद भी किया है।

सुदृढ़ राज्य के लिए आवश्यक अंग ये बताये गए हैं :

"अनुशासनशील सेना, परिश्रमशील जनता, धान्य की समृद्धि, विचारशील मन्त्री, विश्वसनीय मित्र (राज्य) तथा सुदृढ़ दुर्ग—ये छः जिसके पास हैं, वह राजाओं में [illegible] है।"

[illegible] शासन के [illegible] :

“सम्पत्ति का अर्जन, संचय, रक्षा और सुवितरण करने में जो समर्थ हो, वही शासक है।”

मन्त्रणा देने वाले कैसे हों ?

“कठोर शब्दों से आलोचना करने वाले साथी जिस राजा को प्राप्त हों, उसको कौन हानि पहुँचा सकता है ?”

सुदृढ़ अर्थ-व्यवस्था का रहस्य इस सूत्र में किस खूबी के साथ वताया गया है :

“राजस्व सीमित होने पर भी कोई हानि नहीं यदि व्यय उस सीमा के अन्तर्गत ही रहे, तो।”

अधिकारियों की नियुक्ति के बारे में तिरुवळ्ळुवर कहते हैं :

“भली प्रकार जाँच लो कि अमुक कार्य को अमुक व्यक्ति सम्पन्न कर सकता है। उसके वाद उस कार्य को पूर्ण रूप से उसके ज़िम्मे छोड़ दो।”

तात्पर्य यह कि नियुक्ति के वाद उसके कार्य में राजा कभी दख़ल न दे।

राजदूत के लिए ये वातें आवश्यक वताई गई हैं :

“कुशाग्र वुद्धि, प्रभावशाली व्यक्तित्व और प्रगाढ़ विद्या, ये तीनों राजदूत के लिए आवश्यक गुण हैं।”

गुप्तचरों के लक्षण ये वताये गए हैं :

“कभी संन्यासी, कभी भक्त, फिर कभी मृतक वनकर मतलव साधने तथा हर तरह के संकट को पार करने की सूझ-वूझ और उत्साह से युक्त व्यक्ति ही गुप्तचर होने योग्य है।”

राजा को ऐसी कुशलता से नियुक्तियाँ करनी चाहिएँ कि “एक गुप्तचर दूसरे को पहचान न पाय।” इतना ही नहीं, वल्कि राजा को चाहिए कि “एक गुप्तचर द्वारा दी गई सूचना की पुष्टि दूसरे गुप्तचर द्वारा करा ले।”

'तिरुक्कुरळ्' का पोरुळपाल, केवल शासन-विज्ञान व अर्थ-नीति ही नहीं वल्कि समर-शास्त्र भी है। आक्रमण और रक्षा के उपाय, समय, क्षेत्र एवं साधन-सम्वन्धी ज्ञान आदि की इतनी विशद शिक्षा इसमें दी गई है कि

पढ़कर आश्चर्य होता है।

'तिरुक्कुरळ्' का कामत्तुप्पाल (काम-विभाग), तिरुवल्लुवर की जीवन-रसज्ञता एवं सहृदय कवित्व-शक्ति का अमर प्रमाण है। उपदेशक और कूटनीतिज्ञ तिरुवल्लुवर यहाँ पर पूर्ण रूप से कवि के रूप में प्रकट होते हैं। प्रेमी-प्रेमिका के मनोविज्ञान का इतना सजीव चित्रण शायद ही और कहीं देखने को मिलता हो।

उदाहरणतः प्रेमिका की यह अदा देखिये :

"जब मैं देखता हूँ, तब वह नीची निगाह कर लेती है। मेरी दृष्टि हटने पर स्वयं मुझे देखकर धीरे से मुस्कराती है।"

एक और चित्र :

"मैं छींका तो उसने 'जीते रहो' कहकर शुभकामना प्रकट की, परन्तु अगले ही क्षण सिसकियों के बीच पूछा, 'किसके याद करने पर छींके तुम?'"

स्त्रियाँ जब रूठने पर तुल जाती हैं तो उनको मनाना किसी भी तरह सम्भव नहीं होता।

"मैंने कहा, 'तुम मेरे लिए हर किसी से प्यारी हो।' तो उसने रूठकर पूछा, 'किससे? किससे?'"

तिरुवल्लुवर का मत है कि "रूठना प्रेम में सुख बढ़ाता है।" परन्तु साथ ही वह यह चेतावनी भी देते हैं कि "रूठना नमक के समान है।" इसके बिना प्रेम फीका रहता है लेकिन उसके अधिक होने पर भी प्रेम का मजा किरकिरा हो जाता है।

'तिरुक्कुरळ्' तिरुवल्लुवर के जीवन-भर के अनुभव-ज्ञान का ऐसा मधु-संचय है, जिसका स्वाद देश और काल की सीमाओं से रहित, सार्वभौम एवं अमर वस्तु है। तमिल-भाषा और भारतीय साहित्य इस अद्वितीय ग्रन्थ पर गर्व कर सकता है।

संघोत्तर-काल या काव्य-काल

विद्वानों का अनुमान है कि अन्तिम तमिळ-कवि-परिषद् ईसा की द्वितीय शताब्दी के अन्तिम चरण में किन्हीं अज्ञात कारणों से विघटित हो गई। पर स्वतन्त्र कवियों द्वारा साहित्य-सृजन अक्षुण्ण रूप से जारी रहा। संघ-काल स्फुट कविताओं का युग था, तो उसके बाद बृहद् काव्यों एवं लघु-काव्यों का युग आरम्भ हुआ। अतः इस पर्व को काव्य-काल कहना अनुपयुक्त नहीं होगा।

इस युग में रचित पाँच सर्वश्रेष्ठ काव्य 'पंच बृहद् काव्य' कहलाते हैं। ये हैं—१. 'शिलप्पदिकारम्', २. 'मणिमेकलै', ३. 'जीवक-चिन्तामणि', ४. 'वळयापदि' और ५. 'कुण्डल केशि'।

अभी पचास वर्ष पहले तक इन महाकाव्यों के केवल नाम ही शेष रह गए थे। पर महामहोपाध्याय स्वामीनाथ अय्यर के अथक प्रयास के फल-स्वरूप अब इनमें से प्रथम तीन काव्य सुसम्पादित होकर, व्याख्या सहित प्रकाशित हो चुके हैं। इन ग्रन्थों का प्रकाशन क्या था, अतीत इतिहास के भवन में विद्युत्-दीप लग गए। न केवल साहित्य-जगत्, अपितु इतिहास-जगत् भी इस अमूल्य सेवा के लिए स्वर्गीय स्वामीनाथ अय्यर के निकट ऋणी है।

इन 'बृहत् काव्यों' के अलावा, इस युग में रचित पाँच लघु काव्य भी विख्यात हैं। ये हैं—१. 'नीलकेशि', २. 'शूळामणि', ३. 'यशोदर कावियम्', ४. 'नागकुमार कावियम्' तथा ५. 'उदयणन् कदै'। कौतूहल का विषय यह है कि ये दसों काव्य जैन एवं बौद्ध मुनियों—कवियों द्वारा रचित हैं।

शिलप्पदिकारम् नाटकीय शैली में रचित सर्वाङ्ग सुन्दर काव्य है। इसके रचयिता इळंगो (राज-भ्राता) विख्यात चेर-वंशीय राजा शेंगुट्टुवन् के छोटे भाई थे। चेर-राजवंश वैष्णव मतावलम्बी था, पर इळंगो ने युवावस्था में ही जैन धर्म को अपनाकर मुनि-व्रत धारण कर लिया था। 'शिलप्पदिकारम्' की भूमिका में कहा गया है कि उसमें वर्णित कथा, रचयिता के जीवन-काल में ही घटी थी। पर विद्वानों का मत है कि कवि ने एक प्रचलित लोक-कथा के आधार पर यह काव्य रचा होगा और उसमें सजीवता लाने के लिए उसे अपने समय की घटना के रूप में प्रस्तुत किया होगा। 'शिलप्पदिकारम्' के रचना-काल के सम्बन्ध में अभी तक विद्वानों में वाद-विवाद चल रहा है। पर अधिकांश विद्वानों का मत है कि 'शिलप्पदिकारम्' ईसा की दूसरी शताब्दी में रचा गया।

बहुत संक्षेप में 'शिलप्पदिकारम्' की कहानी यह है—चोळ-राजधानी पुहार में कोवलन नाम के वणिक-कुमार का विवाह कण्णकि नाम की वणिक-कन्या के साथ सम्पन्न हुआ और वे सुखी दाम्पत्य-जीवन बिताने लगे। कुछ समय बाद कोवलन ने माद्‌वी नाम की नर्तकी का नृत्य देखा और उस पर मुग्ध होकर उसके साथ ही रहने लगा। मादवी यद्यपि नर्तकी थी, तो भी कोवलन के प्रति उसका प्रेम हार्दिक था।

कुछ समय बाद, इन्द्रोत्सव के दिन कोवलन और माधवी, पुहार-नगर के समुद्र-तट पर, जहाँ कावेरी नदी समुद्र से जा मिलती थी, बैठकर वीणा-वादन के साथ गाने लगे। कोवलन ने कुछ प्रेम-गीत गाये, जिनके ध्वन्यार्थ से माद्‌वी को यह सन्देह हुआ कि वह अपनी विवाहिता पत्नी कण्णकी की याद में वे गीत गा रहा है। इससे रूठकर उसने कुछ ऐसे गीत गाये, जिनके ध्वन्यार्थ से कोवलन को यह शंका हुई कि माधवी का मन उसकी ओर

लोक-गीतों की तर्ज पर अतीव सुन्दर, मधुर गीतों का समावेश करके कवि ने अपनी रचना का सौन्दर्य सौगुना बढ़ा दिया है। तीन-चार स्थानों पर गद्य के भी कुछ प्रकरण हैं, जिनसे उस समय की गद्य-शैली के स्वरूप का पता लगता है।

'शिलप्पदिकारम्' एक उच्च कोटि का काव्य ही नहीं, बल्कि दो हजार वर्ष पहले के तमिळ-समाज का दर्पण भी है। 'शिलप्पदिकारम्' की कथा चोळ-राज्य में आरम्भ होती है, पाण्ड्य-राज्य में उसकी प्रमुख घटना घटती हैं और चेर-राज्य में उसकी समाप्ति होती है। इस कारण इन तीनों प्राचीन राज्यों का सजीव वास्तविक चित्रण इस काव्य में देखने को मिलता है।

इळंगो जैन मुनि थे, परन्तु उनके काव्य में सभी धर्मों के प्रति ऐसी हार्दिक सद्भावना पाई जाती है, जो कवि की विशाल हृदयता की द्योतक है। उदाहरणतः 'ग्वालिनों के नृत्य-गीत' के प्रसंग में ग्वालिनें गाती हैं:

"मेरु को मथानी और वासुकी सर्प को रस्सी बना,
हे माधव, उस दिन तुमने समुद्र का उदर मथ डाला था।
मथने वाले वे ही हाथ, (याद में) यशोदा की मथानी की रस्सी
से बँध गए थे।
हे नृसिंह, हे भ्रान्ति-रहित ! यह तुम्हारी कैसी माया है ?"

इसी प्रकार कर्मठ ब्राह्मणों का यह वर्णन भी अत्यन्त सद्भावनापूर्ण है:

"एक ही ध्येय वाले द्विजन्मी (ब्राह्मण), त्रिविध अग्नि यजकर, चार वेदों का अध्ययन करके पाँचों इन्द्रियों का दमन करते हैं।..."

'शिलप्पदिकारम्' की सभी खूबियों का संक्षेप में भी परिचय देना यहाँ सम्भव नहीं, फिर भी, कोवलन और माधवी में विभेद पैदा करने वाले गीतों की कुछ पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

कोवलन कावेरी नदी को सम्बोधित करके गाता है:

"चन्द्रमा सम छत्रधारी, मालाओं से विभूषित चोळ राजा, शासन-दण्ड को उन्नत करके, गंगा में जा विहार करे, तो भी तुम नहीं रूठतीं, जय हो तुम्हारी, कावेरी ! हे मीन लोचनी, तुम क्यों नहीं रूठतीं, यह

भी मैं जानता हूँ। उच्चकुलीन स्त्रियों का महान् सतीत्व ही इसका कारण है। जय हो तुम्हारी, कावेरी !"

इस गीत में 'उच्चकुलीन स्त्रियों के सतीत्व' की जो प्रशंसा है, वही मादवी के मन में शंका के बीज बोती है। पर कोवलन को इस बात का तनिक भी भान नहीं था। इसलिए, जब मादवी उसे चिढ़ाने के लिए कुछ गीत गाती है, तो वह उस आघात को सह नहीं पाता। मादवी का एक गीत यों है :

"कुसुमित काननों में मोर नाच रहे हैं, कोयलें गा रही हैं। कटि पर मनोहारी पुष्प-हार धीरे से हिल रहे हैं और तुम शान से चल रही हो, हे कावेरी ! परन्तु यह सब ठाठ-बाट किस बिरते पर, यह मैं जानती हूँ। अपने पति (चोळ राजा) के भयप्रद भाले के ही बल पर तुम यों झूम रही हो। जय हो तुम्हारी, कावेरी !"

इस प्रकार उच्चकुलीन स्त्रियों की पति पर आश्रित रहने की प्रवृत्ति पर व्यंग्य कसने के बाद मादवी कोवलन पर यह प्रकट करना चाहती है कि मैं इस प्रकार तुम पर आश्रित नहीं हूँ। सो गाती है :

"सरिता-समुद्र-संगम पर,
जहाँ केतकी के झुरमुट हैं,
आया कोई और हमारे घरौंदे तोड़-फोड़कर
चला गया।
परन्तु उस विध्वंसकारी के प्रति प्रेम
हमारे हृदय से हटता नहीं है।"

था तो कोई लोक-गीत। पर प्रसंगवश इसका ध्वन्यार्थ यह निकलता था कि मादवी किसी और प्रेमी की याद में विह्वल हो रही है। बस कोवलन का मन तत्काल उसकी ओर से विरक्त हो गया।

'मणिमेकलै' कथानक की दृष्टि से 'शिलप्पदिकारम्' का ही उत्तरार्द्ध है। इसमें मादवी की कोवलन से हुई पुत्री मणिमेकलै की कहानी वर्णित है। इसके रचयिता *कूलवाणिगन शात्तनार* अन्तिम तमिळ-कवि-परिषद् के भी

सदस्य माने जाते हैं। इनके बारे में एक रोचक कहानी प्रचलित है। शात्त-नार पारखू काव्य-मर्मज्ञ थे और भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था। कवि-परिषद् के प्रमुख सदस्य के नाते उन्हें प्रतिदिन अनेकों ग्रन्थों का परि-शीलन करना पड़ता था। दाएँ हाथ में लेखनी और बाएँ हाथ में पोथी लेकर वह पढ़ने बैठते थे और जब भी कोई त्रुटि दृष्टिगत हुई, दाएँ हाथ से माथा पीटते थे। तब लौह-लेखनी की नोक उनके माथे पर चुभ जाती और घाव कर देती। इस प्रकार निरन्तर लेखनी-प्रहार सहते रहने के कारण उनके माथे पर घाव सदा हरा रहता था। इस कारण उनका नाम ही 'शीतलैच्चात्तनार' पड़ गया, जिसका अर्थ है, 'मस्तक-व्रणी शात्तनार'।

ऐसे समालोचक द्वारा रचित मणिमेकलै का यह बृहद् काव्य वस्तुतः बौद्ध-धर्म के प्रचार का एक साधन-मात्र है। कथानक केवल पट का काम देता है, जिस पर बौद्ध-धर्म की महत्ता का ओजस्वी चित्र कवित्वमय तूलिका से खींचा गया है।

इसकी कहानी अत्यन्त विशृङ्खल है, जिसका सार यह है—कोवलन द्वारा परित्यक्त होने पर माधवी विरक्त हो गई और बौद्ध-भिक्षुणी बन गई। उसकी पुत्री मणिमेकलै भी बाल्यावस्था में ही भिक्षुणी बनी। एक बार राजा के पुत्र उदयकुमारन ने मणिमेकलै को देखा और प्रेम-विह्वल होकर उसका पीछा किया। पर मणिमेकलै उसके हाथ न लगी। एक देवी उसे उठा ले गई और मणिपल्लव नामक द्वीप में जाकर छोड़ा, जहाँ मणिमेकलै ने भगवान् बुद्ध के चरणों के दर्शन किये और द्वीप-देवता की कृपा से एक अक्षय पात्र प्राप्त करके उसे लेकर चोळ राजधानी लौटी। वहाँ कायशण्डिकै नामक स्त्री का वेश धरकर वह सार्वजनिक सेवा में रत रही। उदयकुमारन को किसी तरह पता चल गया कि मणिमेकलै कायशण्डिकै के रूप में घूम रही है। एक दिन वास्तविक कायशण्डिकै से उदयकुमारन की मुलाकात हुई और उसने मणिमेकलै समझकर उसका पीछा किया। कायशण्डिकै के पति ने इसे देख लिया और क्रोध में आकर राजकुमार को मार डाला। इस पर राजा ने छद्मवेशधारी मणिमेकलै को गिरफ्तार करके जेल में बन्द कर दिया। लेकिन बाद में रानी

के कहने पर उसे मुक्त कर दिया गया।

इसके बाद मणिमेकलै विभिन्न तीर्थों का भ्रमण करती हुई कांचीपुरम पहुँची और वहीं एक बौद्ध-विहार में अन्त तक भिक्षुणी का जीवन बिताती रही।

कथानक के इस प्रकार दुर्बल एवं विसंगत होने पर भी, शात्तनार की अद्भुत भाषा-शैली, कवित्व-शक्ति एवं अगाध पाण्डित्य के कारण 'मणिमेकलै' ने श्रेष्ठ महाकाव्यों की श्रेणी में स्थान पा लिया है। धार्मिक सिद्धान्त-विशारदों के लिए यह ग्रन्थ अमूल्य महत्त्व का है, क्योंकि शात्तनार ने वैदिक धर्म के सांख्य, मीमांसा-जैसे विभिन्न सिद्धान्तवादियों एवं बौद्ध-भिक्षुओं के बीच शास्त्रार्थ कराकर अपने काव्य के एक बहुत बड़े भाग को धार्मिक तर्क-वितर्क का अखाड़ा बना रखा है। इतिहासज्ञों की भी दृष्टि से 'मणिमेकलै' बहुमूल्य तथ्यों का भण्डार माना जाता है।

शात्तनार कोरे सिद्धान्तवादी विद्वान् ही नहीं, अपितु 'रस-सिद्ध' कवि भी थे। अतः उनके काव्य में कितने ही मुग्धकारी काव्यमय शब्द-चित्र रत्नों की भाँति जड़ित हैं। उदाहरणतः एक सघन कुञ्ज का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं :

"सूर्य की विशाल किरणों रूपी सेनाओं के डर के मारे अन्धकार ने इस कुसुमित निकुञ्ज में शरण ली है।...सूर्य की रश्मि इसके भीतर नहीं आ पाती, परन्तु कोयलिया न जाने इसके अन्दर कैसे घुस आती है। यहाँ नर्तक हैं मोर और दर्शक हैं वानर।...."

जब उदयकुमारन पहली बार मणिमेकलै को काँच के भवन में देखता है, तो उसकी सखी वयन्दमालै से पूछता है: "यहाँ कुशल कलाकारों द्वारा निर्मित अनेकों मूर्तियाँ एवं चित्र रखे हैं, इसलिए मैं पहचान नहीं पाता। तुम्हारी सखी कहाँ है, दिखाओ तो ज़रा!"

भगवान् बुद्ध की चरण-पीठिका के प्रथम बार दर्शन करने पर मणिमेकलै,

"....सुध-बुध खो गई।

'कान्दळ' पुष्प सम दोनों हाथ सिर पर जुड़ गए।
कमल से नेत्र मोती बरसाने लगे उभरे स्तन-युगल पर,
परिक्रमा करने लगी वह पीठिका की एक बार,
दो बार, तीन बार, अनेकों बार। मानो
विद्युत्-लता मेघ-सहित धरती पर उतर आई हो।...''

'जीवक-चिन्तामणि' जैन मुनि एवं महाकवि तिरुत्तक्कदेवर की अमर रचना है। इसका रचना-काल ईसा की नौवीं शताब्दी माना जाता है। फिर भी तमिळ के पाँच प्राचीन महाकाव्यों में इसे भी गिना जाता है, अतः यहाँ उसका उल्लेख कर देना उचित ही होगा।

दन्तकथानुसार मुनि तिरुत्तक्कदेवर ने यह प्रमाणित करने के लिए कि जैन-कवि भी शृङ्गार रस से परिपूर्ण महाकाव्य रच सकते हैं, इस उत्कृष्ट काव्य की रचना की। महामहोपाध्याय स्वामीनाथ अय्यर के कथनानुसार तिरुत्तक्कदेवर ने 'श्रीपुराण' में वर्णित जीवक-चरित के आधार पर यह काव्य रचा था। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि वादीभसिंह नामक जैन-कवि के संस्कृत-काव्य 'क्षत्रचूडामणि' के आधार पर इसकी रचना हुई है।

इस महाकाव्य में जीवक नामक राजकुमार की जीवनी, उसके जन्म से लेकर सिद्धलोक की यात्रा तक, विशद रूप में वर्णित है। शृङ्गार रस से ओतःप्रोत होने पर भी, काव्य में जैन धर्म का प्रचार बड़े ही मार्मिक ढङ्ग से किया गया है। काव्यनायक जीवक, कई विवाह करके जीवन के सभी प्रकार के सुखों को भोगने तथा दुखों से जूझने के उपरान्त, जीवन की क्षणभंगुरता को समझकर, राज्य तथा सुख-भोग को त्याग, संन्यास ग्रहण कर लेता है और सशरीर सिद्ध लोक पहुँच जाता है। एक वाक्य में यही इस काव्य की कहानी है।

साहित्यिक दृष्टि से 'जीवक-चिन्तामणि' का महत्त्व इसमें है कि यही वृत्त छन्दों में रचित प्रथम तमिळ-महाकाव्य है। इसकी कथावस्तु यद्यपि संस्कृत से ली गई है, तथापि कवि ने अपने समय के तमिळ-प्रदेश के राजनीतिक, सामाजिक, कलात्मक एवं सांस्कृतिक जीवन का सजीव एवं

वास्तविक वर्णन किया है। इस कारण ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह काव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

तिरुत्तक्कदेवर अपने काव्य में संस्कृत की रचना-शैली को अपनाने वाले प्रथम तमिळ-कवि हैं। अत्युक्ति एवं अतिशयोक्ति से भरपूर होने पर भी देवर की कविता में एक अद्भुत आकर्षण और चिरस्थायी माधुर्य पाया जाता है। शब्दों के संगीत से देवर अवास्तविक को भी वास्तविक बना देते हैं। उनकी भाषा और रचना-शैली ने तमिळ-काव्य में एक नये युग का निर्माण किया। महाकवि कम्बन् ने अपने अद्वितीय काव्य रामायण में 'जीवक-चिन्तामणि' की शैली को ज्यों-का-त्यों अपनाया है और तिरुत्तक्कदेवर के कई भावों एवं उपमाओं को निःसंकोच प्रयुक्त किया है।

'जीवक-चिन्तामणि' ३१४५ वृत्त-कविताओं का बृहत्काव्य है। इसकी विशेषताओं पर बहुत संक्षेप में भी प्रकाश डालना यहाँ पर सम्भव नहीं है। कवि की वर्णन-शैली के एक-दो उदाहरण देकर ही सन्तोष करना पड़ेगा।

काव्य के आरम्भ में ही, नई बाढ़ का वर्णन बहुत ही रोचक है। कवि कहते हैं कि :

"सरयू नदी रूपी कन्या, अपने प्रेमी सागर को पहनाने के लिए फेन-राशि की वरमाला लिये चली......वन-प्रदेश में मतवाले जंगली हाथी की भाँति अप्रतिरोध्य वेग और प्रचण्डता के साथ बहने वाली बाढ़, जब जनता की बस्तियों से गुजरने लगी, तो स्थान-स्थान पर नहरों से निकल जाने के कारण उसका प्रवाह घटता गया।"[1]

समुद्री तूफ़ान का यह वर्णन भी बहुत सुन्दर है :

"आठों दिशाओं से झंझावात आमने-सामने आकर एक-दूसरे से उलझ गए और सागर को एक साथ उठाकर ऊपर ले जाने का-सा प्रयास करते हुए गरजे। ऊपर से काली घटा, काँच की छड़ों की भाँति वर्षा की धाराएँ बरसाने लगी।"[2]

---

१. 'जीवक-चिन्तामणि', कविता ३६—४१।

२. वही, कविता ४०८।

जैन-धर्म का पुनर्जन्म-सिद्धान्त और विराग की भावना, जीवक के संन्यास-ग्रहण के समय की इस उक्ति में स्पष्ट है :

"हम पिछले जन्मों में इन लोगों (पुत्र-पत्नियों) के बान्धव नहीं थे। भावी जन्मों में भी हम इनके बान्धव होने वाले नहीं हैं। इस कारण बान्धव-जैसी कोई वास्तविक वस्तु है ही नहीं।"[1]

पाँच लघु काव्यों में 'नीलकेशि' तथा 'उदयणन् कदै' आदि महामहोपाध्याय स्वामीनाथ अय्यर द्वारा प्रकाशित किये गए हैं। ये पाँचों काव्य जैन-कवियों द्वारा रचित हैं। काव्य-मर्मज्ञों का मत है कि इनमें काव्योचित लक्षण कम और धर्म-प्रचार बहुत अधिक पाया जाता है।

संघोत्तर-काल में हम देखते हैं कि स्फुट कविताओं की रचना प्रायः बन्द हो जाती है और बृहत्काव्यों की रचना आरम्भ हो जाती है। संघकालीन कविताओं में जो यथार्थवादी वर्णन-शैली और भाषा-संयम पाया जाता है, उसके स्थान पर अतिशयोक्ति एवं अस्वाभाविक कल्पना की उड़ान से काम लिया जाता है, यद्यपि 'शिलप्पदिकारम्' बहुत हद तक संघकालीन परम्पराओं को ही निभाता है। संघ-काल में जीवन ही प्रधान माना गया था, जब कि संघोत्तर-काल में धार्मिक तर्क-वितर्क एवं सिद्धान्त-प्रचार को लौकिक जीवन से अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। सबसे ऊपर, संघकालीन कवियों में जीवन के प्रति जो अदम्य उत्साह एवं आशावाद पाया जाता है, वह बाद में धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है और संघोत्तर-काल में जीवन के प्रति उदासीनता, नैराश्य एवं घृणा तक में परिवर्तित हो जाता है। शायद यह संघकाल के निर्बाध भोगवाद की स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। अथवा यह भी हो सकता है कि जैन एवं बौद्ध धर्मों के प्रभाव के फलस्वरूप जनता में ऐसी भावनाएँ घर कर गई हों। या यों कहिए, स्वभावतः जनता में भोगवाद की प्रतिक्रिया के रूप में जो विराग एवं नैराश्य छाने लगा था, उसे जैन और बौद्ध-धर्म-प्रचारकों ने और बढ़ाया।

यह भी उल्लेखनीय बात है कि विभिन्न धर्मों के प्रचार का इस प्रकार

---

१. 'जीवक-चिन्तामणि', कविता २८८६।

बोल-बाला होने पर भी संघोत्तर-काल में धार्मिक असहिष्णुता की भावन कवियों में या जनता में नहीं आ पाई थी। राजा लोग सभी धर्मावलम्बियों के साथ एक-जैसा व्यवहार करते थे। प्रायः यह भी होता था कि एक ही परिवार में विभिन्न धर्मावलम्बी लोग होते थे। उदाहरणतः 'शिलप्पदिकारम्' के रचयिता इळङ्गो जैन थे, जब कि उनका बड़ा भाई राजा चेंगुट्टुवन् वैष्णव था।

: ५ :

भक्ति-काल

संघोत्तर-काल में पारलौकिक एवं धार्मिक प्रवृत्तियों का जो प्रादुर्भाव हुआ था, भक्ति-काव्य-धारा के रूप में उसका विकसित होना स्वाभाविक ही था। आरम्भ में यह प्रवृत्ति, केवल आध्यात्मिक अनुभूति एवं रहस्यवादी काव्य-सृजन तक सीमित रही, परन्तु बाद में उसने विधर्म-खण्डन और विद्वेष तक का रूप धारण कर लिया। फिर भी इस युग में मधुर भक्ति-काव्य की जो सुर-सरिता प्रवाहित हुई, वह आज भी सहृदय रसज्ञों के हृदयों को काव्य-सुधा से सिंचित कर रही है।

भक्ति-काल की सभी रचनाएँ शैव एवं वैष्णव कवियों द्वारा रचित हैं। संघोत्तर-काल में बौद्ध और जैन-धर्मों का जो व्यापक प्रचार हुआ, उसके परिणाम-स्वरूप वैदिक धर्म की भित्तियाँ ढह गई थीं। उसे इस विपदा से बचाने और वैदिक धर्म के जीर्ण मन्दिर को पुनः सुदृढ़ रूप से निर्मित करने का श्रेय इन्हीं भक्त कवियों को है। शायद यही कारण है कि हिन्दू इन सन्त कवियों को अवतार मानकर पूजते हैं।

साहित्य एवं कला की इन कवियों ने जो सेवा की, वह भी अनुपम है। संघोत्तर-काल में जो शृंगारिकता एवं जीवन-विमुखता जनता में आ गई थी, उसके फलस्वरूप, प्रेम-कहानी एवं ललित कलाओं के भी प्रति लोग

उदासीन हो गए। नृत्य, संगीत एवं नाटक आदि कलाएँ जीवन के प्रति अनुराग बढ़ाने के कारण हेय समझी जाने लगीं। ऐसे समय में भक्त कवियों ने गेय छन्दों में ईश्वरीय प्रेम की कविताएँ रचकर प्रेम-काव्य को नया जीवन प्रदान किया। साथ ही, मन्दिरों में नृत्य एवं स्वाँग की परम्परा इस युग में चल पड़ी, जिससे भारत की ये महान् कलाएँ सुरक्षित रह सकीं।

जनता में छाये हुए नैराश्य को दूर करके मानव-हृदय में सरसता का संचार करने में इन सन्त कवियों की देन अद्वितीय रही है।

शैव एवं वैष्णव सन्त कवियों के उपदेश का सारांश यह था :

"जड़-चेतन गुण-दोषमय विश्व ईश्वरीय प्रकृति की ही छाया है। यह सत्य न सही, परन्तु सत्य-प्रकाश की छाया तो है! इस छाया में निहित सत्य का अन्वेषण करना ही मानव-जीवन का ध्येय है। ऐसे महान् ध्येय की पूर्त्ति का साधन होने के कारण जीवन भी पवित्र है, उत्कृष्ट है, वांछनीय है—हेय अथवा निन्द्य नहीं।"

वैसे भक्ति-काव्य की रचना संघ-काल में भी कभी-कभी होती थी। उदाहरणतः महाकवि नक्कीरर ने भगवान् कार्त्तिकेय पर 'तिरुमुरुगारु़प्पडै़' नामक काव्य रचा था। फिर भी, भक्ति-काल के सन्त कवियों एवं अन्य भक्ति-काव्य-रचयिताओं में मौलिक अन्तर यह पाया जाता है कि सन्त कवियों ने केवल भक्ति-काव्य रचे हैं, जब कि अन्य कवियों ने दूसरी रचनाओं के साथ साथ भक्ति-काव्य भी रचे हैं। भक्त कविगण केवल ईश्वर की सत्ता मानते थे। मानवीय सत्ता की उन्होंने कभी परवाह नहीं की। उनमें से कइयों को इसके लिए कठोर यातनाएँ सहनी पड़ी थीं, फिर भी वे अपने सिद्धान्त पर अटल रहे। परम भक्त 'अप्पर' के शब्दों में वे यह घोषणा करते थे कि "हम किसी की प्रजा नहीं हैं, यम से हम नहीं डरते।"

शैव कवि

ऐसे स्वच्छन्द, लौकिक सत्ता से पूर्णतया स्वतन्त्र भक्त कवियों में काल-क्रम से प्रथम स्थान कारैकाल अम्मैयार नाम की सन्त नारी को प्राप्त है।

पढ़ने और गाने में बहुत ही सरल लगते हैं और उनकी भाषा भी सुबोध होती है। आध्यात्मिक स्वानुभूति से सने होने के कारण इन गीतों में हृदय को द्रवित करने वाला एक अनूठा माधुर्य पाया जाता है। इसी कारण तमिळ में यह कहावत प्रचलित हुई कि "तिरुवाचकत्तुक्कुरुगान् ओरु वाचकत्तुक्कुम् उरुगान्।" अर्थात् 'तिरुवाचकम्' से जो द्रवित न होता हो, वह किसी भी सुकविता से द्रवित नहीं हो सकता।

माणिक्कवाचकर् का यह मत है कि केवल बुद्धि के बल से जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता। कहते हैं :

"सद्भक्त तुम्हारे मधुमय पुष्पसम चरण में पहुँचे हैं, यह मैंने देखा और सुना। फिर भी मैं खाता-पीता, पहनता-ओढ़ता, बैठा रहा, किंकर्तव्य-विमूढ़-सा, मतिहीन श्वान की भाँति। सत्य से विमुख असद्वादियों की ही श्रेणी का हूँ मैं....।"

तात्पर्य यह कि बुद्धि के बल से यह भली प्रकार समझने पर भी कि केवल इन्द्रिय-सुखों का उपभोग जीव का चरम ध्येय नहीं, भक्ति-हीन व्यक्ति इस दिनचर्या के बन्धन से अपने को मुक्त नहीं कर पाता। ऐसी भक्ति तार्किक विवेचन-शक्ति एवं पाण्डित्य से तथा शरीर को यातना पहुँचाने वाली तपस्या से परे है। परमात्मा के अनुग्रह के बिना यह प्राप्त नहीं होती। परमात्मा का अनुग्रह उसी जीव को प्राप्त होता है जो अहंकार से पूर्णतया रहित एवं नम्र हो।

"जब मुक्ति की खोज में तपस्वीगण अनेक यातनाएँ सहते हुए भटक रहे हैं, तब उस परम् ज्योति ने एक मूक हाथी को मोक्ष प्रदान किया और मुझ अकिंचन को भी अनुग्रह करके भक्ति के सुधा-सागर में निमग्न किया....।"

"सबके लिए अवेद्य हो तुम, पर हम भक्तों के लिए सुवेद्य !"

"असंस्कृत था मुझ नीच श्वान का मन। पर...शिवजी ने मुझे उन्मत्त बना दिया, पत्थर को पिघलाकर फलवत् रसमय बना दिया !"

ईश्वर की कृपा जब हो जाती है, तो त्रिगुणात्मक माया तत्काल भस्म

हो जाती है और सत्य-चिन्मय रूपी मुक्ति-पद तत्काल प्राप्त हो जाता है। यह भाव इस रूपक में कितनी सुन्दरता के साथ व्यक्त किया गया है :

"खिंचा धनुष और छिड़ा युद्ध,
मिट गए तीनों पुर तत्काल !
एक साथ ही मिट गए तीनों तत्काल !"

भक्त माणिक्कवाचकर् को समस्त प्रकृति शिवमय प्रतीत होती थी।

"वेद वह, यज्ञ वह, सत्य वह, मिथ्या वह, ज्योति वह, तम वह......आदि वह, अन्त भी वह...।"

'तिरुवाचकम्' के रूप में संकलित स्फुट कविताओं के अलावा, माणिक-वाचकर् ने एक रहस्यवादी प्रबन्ध-काव्य भी रचा है, जो 'तिरुक्कोवैयार' के नाम से प्रख्यात है। इसकी एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें परमात्मा प्रेमिका के रूप में तथा जीवात्मा प्रेमी के रूप में वर्णित है। एक प्राचीन तमिळ-काव्य में सूफ़ी मत की यह छाया आश्चर्यजनक है।

'तेवारम्' के रचयिताओं में काल-क्रम से अप्पर प्रथम थे। वह पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन् के समकालीन थे, अतः विद्वानों का मत है कि उनका काल ईसा की छठी शताब्दी के तृतीय चरण से लेकर सातवीं शताब्दी के मध्य तक का था।

है। साथ ही, परमात्मा को छोड़कर अन्य किसी सत्ता को न मानने की निरंकुशता की भी उनमें स्पष्ट झलक है। उनकी भाषा इतनी रस-सनी है कि उनको 'तिरुनावुक्करशर' अर्थात् 'श्री वागीश' कहा जाता है।

जब राजा की ओर से उन्हें भय दिखलाया गया, तो तिरुनावुक्करशर ने कहा :

"गंगाधर शिव है आत्मीय हमारा। न हम किसी से डरते हैं, न हमें कोई डरा सकता है।"

जब कहा गया कि वह राजा है और तुम प्रजा हो, तो वह बोल उठे, "हम किसी की प्रजा नहीं हैं (सिवाय शंकर जी के)। यम से हम नहीं डरते।"

घोर यातना सहते हुए एक बार वह गा उठे :

"सुझंकृत वीणा-सी, सायंकालीन चन्द्रमा-सी,
बहती मलय पवन-सी, उत्फुल्ल मधुमास-सी,
मधुकर-गुन्जरित-कमल-सर-सी,
मधुर है मेरे ईश की चरण-छाया !"

'तेवारम्' दस-दस कविताओं के स्तवकों से गुँथी हुई काव्य-माला है। प्रत्येक दशक में एक विषय, चाहे वह कोई भाव हो या तीर्थ-स्थान का वर्णन, सम्पूर्ण हो जाता है और ग्यारहवीं कविता में रचयिता की 'मुद्रा' होती है। वस्तुतः इस रचना-शैली के प्रवर्तक अप्पर ही थे। पर 'मुद्रा' वाली कविता में वह अपना नाम नहीं देते, केवल अपने पश्चात्ताप की एक आह छोड़ते हैं। प्रायः इसमें कैलाश को उठाने का दुःसाहस करने वाले रावण का दर्प चूर होने का उल्लेख किया जाता है।

निर्भयता, निर्मोह, अटल भक्ति एवं अप्रतिरोध—ये हैं वे सिद्धान्त, जिनका अप्पर ने अपने आचरण एवं कविताओं द्वारा प्रचार किया। वे एक स्थान पर कहते हैं: "शंख-निधि, पद्म-निधि दोनों के साथ-साथ, पृथ्वी एवं देव-लोक की शासन-सत्ता भी कोई हमें प्रदान करे, तो हम उसकी उस नश्वर सम्पत्ति की तनिक परवाह नहीं करेंगे। परन्तु यदि कोई

गंगाधर भगवान् शंकर का भक्त हो, तो हम उसे ईश्वर-सम वन्दनीय मानेंगे, चाहे उसके सारे अंग कुष्ठ रोग के कारण सड़े-गले भी क्यों न हों।"

अप्रतिरोध की प्रवृत्ति अप्पर में सम्भवतः जैन-धर्म के उपसर्ग-सहन के सिद्धान्त के प्रभाव से विकसित हुई होगी। साथ-साथ उनकी अटल भक्ति भी इसका एक प्रमुख कारण थी।

"उनका दायित्व है हमारा संरक्षण; हमारा तो काम है सेवा करना और निर्लिप्त रहना।"

"पत्थर के खम्भे से बाँधकर समुद्र में बहा दे कोई, तब भी 'नमः शिवाय' मन्त्र ही हमारा रक्षक होगा।"

अप्पर की रहस्यवादी कविताएँ अतीव मार्मिक हैं। समस्त चराचर उन्हें शिव-शक्ति-स्वरूप दिखाई देता है।

"हाथी को मैंने आता देखा, प्रेममयी हथिनी संग।
देखे उनके श्रीचरण, अदृष्ट, अज्ञात छवि देखी॥"

अप्पर की कविता में एक अनोखी पीड़ा, विरही की-सी वेदना की हूक पाई जाती है। पर कहीं-कहीं वह ध्येय की पूर्ति के आह्लाद में झूमते हुए गाते हैं :

"खोजकर पा लिया मैंने, अपने अन्तरतम में, उस देव को, जिसे खोजकर हारे विरंचि और विष्णु।"

शैव सन्त कवियों में *तिरुज्ञानसम्बन्दर* का स्थान अद्वितीय है। संक्षेप में उन्हें 'सम्बन्दर' कहा जाता है। जब अप्पर सत्तर वर्ष के थे, तब सम्बन्दर आठ-दस साल के थे। दोनों में एक-दूसरे के प्रति हार्दिक स्नेह एवं श्रद्धा थी।

जगदीश्वरी के स्तन्य-पान से ज्ञान प्राप्त करने के कारण इस शिशु का नाम 'ज्ञानसम्बन्दर'—अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान से सम्बद्ध—पड़ गया।

अद्वैतवाद के प्रवर्तक शंकराचार्य ने अपनी 'सौन्दर्य-लहरी' में इस दन्त-कथा का इस प्रकार उल्लेख किया है :

"तव स्तन्यं मन्ये धरणिधर-कन्ये हृदयतः,
पयः पारावारः परिवहति सारस्वतमिव।
दयावत्या दत्तं द्रविडशिशुरास्वाद्य तव यत्,
कवीनां प्रौढानां अजनि कमनीयः कवयिता॥"

सम्बन्दर की कविताओं में शिशु-सम कौतूहल, जीवन-प्रेम और आनन्दानुभूति का जो स्निग्ध रस प्रवाहित होता है, शायद वही इस कल्पना का आधार था। कथानुसार सोलह वर्ष की आयु में सम्बन्दर का विवाह सम्पन्न हुआ और उसी दिन वह पत्नी-समेत परम ज्योति में लीन हो गए।

सम्बन्दर सूक्ष्मदर्शी प्रकृति-प्रेमी थे। चार-चार पंक्तियों की उनकी अधिकांश कविताओं में दो पंक्तियों में प्रकृति-वर्णन होता है और शेष दो पंक्तियों में ईश्वर का गुण-गान। जिस शिव-स्थल में वह जाते थे, उसका सजीव चित्र अपनी सुधामय कविता में अंकित कर देते थे।

कहीं उनको मधुकर "विभिन्न पुष्पों में क्रम से मुँह लगाकर वंसी की-सी तान छेड़ता हुआ" दिखाई देता है, तो कहीं "कुसुमित कानन में बीन-सी बजाता हुआ" दृष्टिगत होता है। कहीं हम देखते हैं, "लाल मुँह वाली बन्दरिया, बन्दर से रूठकर, बच्चे को लिये, दूर छलाँग मारने के लिए काली चट्टान पर चढ़ रही है," तो कहीं "लीलामयी भौंरी, उन फूलों का तिरस्कार करके चली जा रही है, जिनमें उसका रसिया 'साजन' मधु-पान कर चुका हो।" कहीं "कर्कश बोली बोलने वाली व्याध-तरुणी के कन्धे पर बैठा हुआ मिठबोला तोता 'आयो' कह रहा है," और कहीं "ग्वाले की बाँसुरी सुनकर चरने वाली भैंसें एक साथ उनके पास आकर घर लौटने को तैयार खड़ी हो जाती हैं।" कहीं

"जल-प्रपात मोती बरसा रहा है," तो कहीं "अमलतास के वृक्ष स्वर्णिम छटा बिखेर रहे हैं।"

नागरिक जीवन भी सम्बन्दर को रसमय लगता है। कहीं "ऊँची अट्टालिकाओं पर युवतियाँ मधुमय गीत गा रही हैं, जिससे सारा नगर संगीतमय प्रतीत होता है।" कहीं "समृद्धि के चिह्नसम ऊँचे भवन" उन्हें आकर्षित करते हैं, तो कहीं "मन्दिर के प्रांगण में मयूरसम नाचने वाली तरुणियों" को देखकर वह मुग्ध हो जाते हैं।

पर्वतीय वनों के भी कई सुन्दर चित्र सम्बन्दर की कविताओं में पाये जाते हैं। एक पहाड़ी शिव-मन्दिर में व्याध लोग शिव की पूजा कर रहे हैं। उनकी असंस्कृत, जंगली पूजा-विधि, 'सुसंस्कृत' जूही की लता को उपहासास्पद लगती है।

"पहाड़ी व्याधों को पूजा करते देख,
पर्णमय टहनियों में तनिक मुँह छिपा,
मुस्करा रही जुही की लता!"

एक जंगली हाथी का यह चित्र कितना मनोहारी और कितना वास्तविक है :

"मेघ-गर्जन को सिंह की दहाड़ समझकर मतवाला हाथी गुफा की ओर भागा। भागते-भागते एक चट्टान को दाँतों से उखाड़कर चला।"

मतवाला हाथी डरा भी और अपनी ही भीति पर उसे क्रोध भी आया। गुस्सा किसी पर उतारना था, सो चट्टान को दाँतों से उखाड़कर ही सन्तोष कर लिया।

प्रकृति-वर्णन और ईश्वर का गुण-गान दोनों साथ-साथ करने के द्वारा सम्बन्दर ने लोगों को यह बतलाया कि सृष्टिकर्ता ईश्वर को जानने के लिए सृष्टि को जानना और उससे सरस सहानुभूति रखना आवश्यक है। जीवन से विमुख होना या उसे घृणित समझना आध्यात्मिक साधना में सहायक नहीं बाधक होता है।

माणिक्कवाचकर की-सी आत्म-प्रतारणा, या अप्पर का-सा दास-भाव,

सम्बन्दर में लेश-मात्र भी नहीं पाया जाता। बल्कि वह बड़े अभिमान के साथ घोषित करते हैं, 'पूसुरन् ज्ञानसम्बन्दन्' (भूसुर ज्ञान-सम्बन्ध), 'वेदियन् ज्ञान सम्बन्दन्' (ब्राह्मण ज्ञान-सम्बन्ध), 'नान् मरैवल्ल ज्ञानसम्बन्दन्' (चारों वेदों का पारंगत ज्ञान-सम्बन्ध) 'नल् तमिळ ज्ञान सम्बन्दन्' (सुमधुर तमिळ कवि ज्ञान-सम्बन्ध) इत्यादि। वह ईश्वर से कृपा की याचना नहीं करते, ममता पूर्वक माँग करते हैं—उसी तरह, जैसे पुत्र पिता से माँग करता है।

तमिळ-भाषी प्रदेश में वैदिक धर्म का पुनः स्थापन करने में सम्बन्दर का बड़ा हाथ था। उनकी कुछ कविताओं में वेदों की गूँज-सी सुनाई देती है।

भक्ति के साथ जीवन-रसज्ञता एवं स्निग्ध प्रकृति-प्रेम का संचार करने वाले दूसरे शैव सन्त कवि सुन्दरर हैं। तिरुवारूर के निवासी होने के कारण उनको 'आरूरर' भी कहा जाता है।

सुन्दरर की कविताएँ सखा-भाव से ओत-प्रोत हैं। अर्जुन और श्रीकृष्ण का जो सम्बन्ध था, वही सुन्दरर और शिवजी में हम पाते हैं। जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने मन की बातें मित्र को निःसंकोच बता देता है, ठीक उसी प्रकार सुन्दरर भी शिवजी को हृदय की सभी बातें बता देते हैं।

सम्बन्दर की भाँति सुन्दरर भी बाह्य-प्रकृति के सौन्दर्य पर मुग्ध होते हैं। "डाल पर कोयल गा रही है, नाच रहा है सुन्दर मयूर।" इस दृश्य से वह जितने आह्लादित होते हैं, उतने ही "आधे उकसे उरोजों वाली कन्याओं की जल-क्रीड़ा" पर भी।

सुन्दरर विभिन्न क्षेत्रों का भ्रमण करते थे, पर तिरुवारूर के प्रति उनका विशेष अनुराग था। एक बार तिरुवारूर से बहुत दिन तक बाहर रह जाने के कारण उनका मन व्यथित हो उठा। तिरुवारूर में विराजमान शिवजी के दर्शनों के लिए वह आतुर हो उठे और उनके कण्ठ से यह करुण पुकार निकली: "कितने दिन बिछुड़ा रहूँगा मैं आरूरर के अपने ईश से?"

सुन्दरर अन्य तीनों शैव सन्त कवियों से कई सौ वर्ष बाद हुए। उन्होंने

न केवल स्वयं काव्य-रचना की, अपितु अपने से पहले के सन्त कवियों की रचनाओं को सुरक्षित रखने में भी योग दिया। उनके एक दशक के आधार पर बाद में कवि *शेक्किळार* ने 'पेरियपुराणम्' के सुन्दर काव्य की रचना की, जिसमें सभी शैव सन्तों की जीवन-कथाएँ वर्णित हैं।

इस प्रसंग में एक अन्य शैव सन्त कवि का भी उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है। ये हैं *तिरुमूलर* जिनकी तीन हजार आध्यात्मिक कविताएँ **'तिरुमन्दिरम्'** (पवित्र मन्त्र) के नाम से विख्यात हैं।

तिरुमूलर एकान्त-सेवी तपस्वी थे और उन्होंने अपनी तपः पूत आध्यात्मिक अनुभूतियों एवं दार्शनिक विचारों को मधुर कविताओं के रूप में प्रकट किया। तिरुमूलर की कविताओं में सूत्रों का-सा भाषा-संयम एवं गहन तत्त्वार्थ पाया जाता है। सरल रूपकों द्वारा गूढ़तम आध्यात्मिक तत्त्वों का प्रतिपादन करना तिरुमूलर की विशेष प्रतिभा है।

"काठ को छिपाया मदमस्त हाथी ने,
काठ में छिप गया मदमस्त हाथी।
'परम्' को छिपाया पाँच बड़े भूतों ने ,
'परम्' में छिप गए पाँचों बड़े भूत।"

पाँचों भूतों का बना यह बाह्य जगत् अपने अन्तर्निहित ईश्वरीय तत्त्व को छिपाये हुए है। परन्तु ज्यों ही दृश्य जगत् के अन्दर छिपे हुए ईश्वरीय तत्त्व का बोध हो जाता है, त्यों ही ये पाँचों भूत उसीमें विलीन हो जाते हैं और ईश्वर ही सर्वत्र व्याप्त दृष्टिगत होता है। ठीक उसी प्रकार, जैसे हाथी की मूर्ति में निहित काठ का बोध होते ही हाथी का डर जाता रहता है और काठ ही दृष्टिगत होता है।

तिरुमूलर विश्व-प्रेम के प्रचारक थे। अपितु वह तो यहाँ तक घोषणा करते हैं कि :

"मतिहीन कहते हैं, प्रेम और ईश्वर भिन्न-भिन्न हैं। प्रेम ही शिव है, यह कोई नहीं समझता। प्रेम ही शिव है, यह बोध होते ही जीव स्वयं प्रेमरूपी शिव बनकर अमर हो जायगा।"

कहीं-कहीं गूढ़तम आध्यात्मिक अनुभूतियों को व्यक्त करते समय तिरुमूलर की कविता दुरूह हो जाती है। फिर भी अव्यक्त को काव्य द्वारा अभिव्यक्त करने वाले स्वानुभूतिशील सन्तों में तिरुमूलर का स्थान बहुत ऊँचा है।

वैष्णव सन्त कवि

वैष्णव सन्त कवि 'आळ्वार'—रक्षक—कहलाते हैं। ऐसे बारह आळ्वारों द्वारा रचित चार हजार कविताओं का बृहत् संग्रह 'नालायिर दिव्य प्रबन्धम्' कहलाता है।

इनमें तीन सन्त 'मुदलाळ्वार' आदि भक्त—बताये जाते हैं: पोयूगै आळ्वार, पूदत्ताळ्वार और पेयाळ्वार। इन तीनों के तीन शतक 'तिरु-वन्दादि' के नाम से विख्यात हैं। वेण्बा छन्द में रचित ये तीनों शतक भाषा-सौष्ठव एवं अर्थ-गाम्भीर्य की दृष्टि से उच्चकोटि के काव्य हैं। स्थाना-भाव के कारण प्रत्येक शतक की एक-एक कविता का भाव यहाँ देकर ही सन्तोष करना पड़ेगा।

"भक्त जिस रूप को चाहते हैं, वही उसका रूप है। जिस नाम को चाहते हैं, वही उसका नाम। भक्त जिस ढंग से भी उपासना करें, उसी ढंग से चक्रधर विष्णु उनका उपास्य बन जाता है।"[1]

"प्रेम के दिये में अभिलाषा का घी डाल, स्निग्ध हृदय की बाती लगा, स्नेह-द्रवित आत्मा के साथ मैंने नारायण के सम्मुख ज्ञान-दीप जलाया।"[2]

"वह ईश्वर है। पृथ्वी, आकाश, आठों दिशाओं, वेद, वेदार्थ, सर्वत्र अन्तर्निहित है। पर आश्चर्य यह है कि उसका निवास है मेरे हृदय में।"[3]

भक्ति-काव्य द्वारा स्निग्ध वात्सल्य रस प्रवाहित करने वाले वैष्णव सन्त

---

१. पोयूगै आळ्वार।

२. पूदत्ताळ्वार।

३. पेयाळ्वार।

न केवल स्वयं काव्य-रचना की, अपितु अपने से पहले के सन्त कवियों की रचनाओं को सुरक्षित रखने में भी योग दिया। उनके एक दशक के आधार पर बाद में कवि *शेक्किळार* ने 'पेरियपुराणम्' के सुन्दर काव्य की रचना की, जिसमें सभी शैव सन्तों की जीवन-कथाएँ वर्णित हैं।

इस प्रसंग में एक अन्य शैव सन्त कवि का भी उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है। ये हैं *तिरुमूलर* जिनकी तीन हजार आध्यात्मिक कविताएँ **'तिरुमन्दिरम्'** (पवित्र मन्त्र) के नाम से विख्यात हैं।

तिरुमूलर एकान्त-सेवी तपस्वी थे और उन्होंने अपनी तपः पूत आध्यात्मिक अनुभूतियों एवं दार्शनिक विचारों को मधुर कविताओं के रूप में प्रकट किया। तिरुमूलर की कविताओं में सूत्रों का-सा भाषा-संयम एवं गहन तत्त्वार्थ पाया जाता है। सरल रूपकों द्वारा गूढ़तम आध्यात्मिक तत्त्वों का प्रतिपादन करना तिरुमूलर की विशेष प्रतिभा है।

"काठ को छिपाया मदमस्त हाथी ने,
काठ में छिप गया मदमस्त हाथी।
'परम्' को छिपाया पाँच बड़े भूतों ने,
'परम्' में छिप गए पाँचों बड़े भूत।"

पाँचों भूतों का बना यह बाह्य जगत् अपने अन्तर्निहित ईश्वरीय तत्त्व को छिपाये हुए है। परन्तु ज्यों ही दृश्य जगत् के अन्दर छिपे हुए ईश्वरीय तत्त्व का बोध हो जाता है, त्यों ही ये पाँचों भूत उसीमें विलीन हो जाते हैं और ईश्वर ही सर्वत्र व्याप्त दृष्टिगत होता है। ठीक उसी प्रकार, जैसे हाथी की मूर्ति में निहित काठ का बोध होते ही हाथी का डर जाता रहता है और काठ ही दृष्टिगत होता है।

तिरुमूलर विश्व-प्रेम के प्रचारक थे। अपितु वह तो यहाँ तक घोषणा करते हैं कि :

"मतिहीन कहते हैं, प्रेम और ईश्वर भिन्न-भिन्न हैं। प्रेम ही शिव है, यह कोई नहीं समझता। प्रेम ही शिव है, यह बोध होते ही जीव स्वयं प्रेमरूपी शिव बनकर अमर हो जायगा।"

कहीं-कहीं गूढ़तम आध्यात्मिक अनुभूतियों को व्यक्त करते समय तिरुमूलर की कविता दुरूह हो जाती है। फिर भी अव्यक्त को काव्य द्वारा अभिव्यक्त करने वाले स्वानुभूतिशील सन्तों में तिरुमूलर का स्थान बहुत ऊँचा है।

वैष्णव सन्त कवि

वैष्णव सन्त कवि 'आळ्वार'—रक्षक—कहलाते हैं। ऐसे बारह आळ्वारों द्वारा रचित चार हजार कविताओं का बृहत् संग्रह 'नालायिर दिव्य प्रबन्धम्' कहलाता है।

इनमें तीन सन्त 'मुदलाळ्वार' आदि भक्त—बताये जाते हैं: पोयूगै आळ्वार, पूदत्ताळ्वार और पेयाळ्वार। इन तीनों के तीन शतक 'तिरुवन्दादि' के नाम से विख्यात हैं। वेण्बा छन्द में रचित ये तीनों शतक भाषा-सौष्ठव एवं अर्थ-गाम्भीर्य की दृष्टि से उच्चकोटि के काव्य हैं। स्थानाभाव के कारण प्रत्येक शतक की एक-एक कविता का भाव यहाँ देकर ही सन्तोष करना पड़ेगा।

"भक्त जिस रूप को चाहते हैं, वही उसका रूप है। जिस नाम को चाहते हैं, वही उसका नाम। भक्त जिस ढंग से भी उपासना करें, उसी ढंग से चक्रधर विष्णु उनका उपास्य बन जाता है।"[1]

"प्रेम के दिये में अभिलाषा का घी डाल, स्निग्ध हृदय की बाती लगा, स्नेह-द्रवित आत्मा के साथ मैंने नारायण के सम्मुख ज्ञान-दीप जलाया।"[2]

"वह ईश्वर है। पृथ्वी, आकाश, आठों दिशाओं, वेद, वेदार्थ, सर्वत्र अन्तर्निहित है। पर आश्चर्य यह है कि उसका निवास है मेरे हृदय में।"[3]

भक्ति-काव्य द्वारा स्निग्ध वात्सल्य रस प्रवाहित करने वाले वैष्णव सन्त

---

१. पोयूगै आळ्वार।
२. पूदत्ताळ्वार।
३. पेयाळ्वार।

न केवल स्वयं काव्य-रचना की, अपितु अपने से पहले के सन्त कवियों की रचनाओं को सुरक्षित रखने में भी योग दिया। उनके एक दशक के आधार पर बाद में कवि *शेक्किळार* ने 'पेरियपुराणम्' के सुन्दर काव्य की रचना की, जिसमें सभी शैव सन्तों की जीवन-कथाएँ वर्णित हैं।

इस प्रसंग में एक अन्य शैव सन्त कवि का भी उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है। ये हैं *तिरुमूलर* जिनकी तीन हजार आध्यात्मिक कविताएँ **'तिरुमन्दिरम्'** (पवित्र मन्त्र) के नाम से विख्यात हैं।

तिरुमूलर एकान्त-सेवी तपस्वी थे और उन्होंने अपनी तपः पूत आध्यात्मिक अनुभूतियों एवं दार्शनिक विचारों को मधुर कविताओं के रूप में प्रकट किया। तिरुमूलर की कविताओं में सूत्रों का-सा भाषा-संयम एवं गहन तत्त्वार्थ पाया जाता है। सरल रूपकों द्वारा गूढ़तम आध्यात्मिक तत्त्वों का प्रतिपादन करना तिरुमूलर की विशेष प्रतिभा है।

"काठ को छिपाया मदमस्त हाथी ने,
काठ में छिप गया मदमस्त हाथी।
'परम्' को छिपाया पाँच बड़े भूतों ने,
'परम्' में छिप गए पाँचों बड़े भूत।"

पाँचों भूतों का बना यह बाह्य जगत् अपने अन्तर्निहित ईश्वरीय तत्त्व को छिपाये हुए है। परन्तु ज्यों ही दृश्य जगत् के अन्दर छिपे हुए ईश्वरीय तत्त्व का बोध हो जाता है, त्यों ही ये पाँचों भूत उसीमें विलीन हो जाते हैं और ईश्वर ही सर्वत्र व्याप्त दृष्टिगत होता है। ठीक उसी प्रकार, जैसे हाथी की मूर्ति में निहित काठ का बोध होते ही हाथी का डर जाता रहता है और काठ ही दृष्टिगत होता है।

तिरुमूलर विश्व-प्रेम के प्रचारक थे। अपितु वह तो यहाँ तक घोषणा करते हैं कि :

"मतिहीन कहते हैं, प्रेम और ईश्वर भिन्न-भिन्न हैं। प्रेम ही शिव है, यह कोई नहीं समझता। प्रेम ही शिव है, यह बोध होते ही जीव स्वयं प्रेमरूपी शिव बनकर अमर हो जायगा।"

कहीं-कहीं गूढ़तम आध्यात्मिक अनुभूतियों को व्यक्त करते समय तिरुमूलर की कविता दुरूह हो जाती है। फिर भी अव्यक्त को काव्य द्वारा अभिव्यक्त करने वाले स्वानुभूतिशील सन्तों में तिरुमूलर का स्थान बहुत ऊँचा है।

वैष्णव सन्त कवि

वैष्णव सन्त कवि 'आळ्वार'—रक्षक—कहलाते हैं। ऐसे बारह आळ्वारों द्वारा रचित चार हजार कविताओं का बृहत् संग्रह 'नालायिर दिव्य प्रबन्धम्' कहलाता है।

इनमें तीन सन्त 'मुदलाळ्वार' आदि भक्त—बताये जाते हैं : पोयूगै आळ्वार, पूदत्ताळ्वार और पेयाळ्वार। इन तीनों के तीन शतक 'तिरु-वन्दादि' के नाम से विख्यात हैं। वेण्बा छन्द में रचित ये तीनों शतक भाषा-सौष्ठव एवं अर्थ-गाम्भीर्य की दृष्टि से उच्चकोटि के काव्य हैं। स्थानाभाव के कारण प्रत्येक शतक की एक-एक कविता का भाव यहाँ देकर ही सन्तोष करना पड़ेगा।

"भक्त जिस रूप को चाहते हैं, वही उसका रूप है। जिस नाम को चाहते हैं, वही उसका नाम। भक्त जिस ढंग से भी उपासना करें, उसी ढंग से चक्रधर विष्णु उनका उपास्य बन जाता है।"[१]

"प्रेम के दिये में अभिलाषा का घी डाल, स्निग्ध हृदय की बार्ती लगा, स्नेह-द्रवित आत्मा के साथ मैंने नारायण के सम्मुख ज्ञान-दीप जलाया।"[२]

"वह ईश्वर है। पृथ्वी, आकाश, आठों दिशाओं, वेद, वेदार्थ, सर्वत्र अन्तर्निहित है। पर आश्चर्य यह है कि उसका निवास है मेरे हृदय में।"[३]

भक्ति-काव्य द्वारा स्निग्ध वात्सल्य रस प्रवाहित करने वाले वैष्णव सन्त

---

१. पोयूगै आळ्वार।
२. पूदत्ताळ्वार।
३. पेयाळ्वार।

न केवल स्वयं काव्य-रचना की, अपितु अपने से पहले के सन्त कवियों की रचनाओं को सुरक्षित रखने में भी योग दिया। उनके एक दशक के आधार पर बाद में कवि *शेक्किळार* ने 'पेरियपुराणम्' के सुन्दर काव्य की रचना की, जिसमें सभी शैव सन्तों की जीवन-कथाएँ वर्णित हैं।

इस प्रसंग में एक अन्य शैव सन्त कवि का भी उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है। ये हैं *तिरुमूलर* जिनकी तीन हजार आध्यात्मिक कविताएँ **'तिरुमन्दिरम्'** (पवित्र मन्त्र) के नाम से विख्यात हैं।

तिरुमूलर एकान्त-सेवी तपस्वी थे और उन्होंने अपनी तपः पूत आध्यात्मिक अनुभूतियों एवं दार्शनिक विचारों को मधुर कविताओं के रूप में प्रकट किया। तिरुमूलर की कविताओं में सूत्रों का-सा भाषा-संयम एवं गहन तत्त्वार्थ पाया जाता है। सरल रूपकों द्वारा गूढ़तम आध्यात्मिक तत्त्वों का प्रतिपादन करना तिरुमूलर की विशेष प्रतिभा है।

"काठ को छिपाया मदमस्त हाथी ने,
काठ में छिप गया मदमस्त हाथी।
'परम्' को छिपाया पाँच बड़े भूतों ने ,
'परम्' में छिप गए पाँचों बड़े भूत।"

पाँचों भूतों का बना यह बाह्य जगत् अपने अन्तर्निहित ईश्वरीय तत्त्व को छिपाये हुए है। परन्तु ज्यों ही दृश्य जगत् के अन्दर छिपे हुए ईश्वरीय तत्त्व का बोध हो जाता है, त्यों ही ये पाँचों भूत उसीमें विलीन हो जाते हैं और ईश्वर ही सर्वत्र व्याप्त दृष्टिगत होता है। ठीक उसी प्रकार, जैसे हाथी की मूर्ति में निहित काठ का बोध होते ही हाथी का डर जाता रहता है और काठ ही दृष्टिगत होता है।

तिरुमूलर विश्व-प्रेम के प्रचारक थे। अपितु वह तो यहाँ तक घोषणा करते हैं कि :

"मतिहीन कहते हैं, प्रेम और ईश्वर भिन्न-भिन्न हैं। प्रेम ही शिव है, यह कोई नहीं समझता। प्रेम ही शिव है, यह बोध होते ही जीव स्वयं प्रेमरूपी शिव बनकर अमर हो जायगा।"

कहीं-कहीं गूढ़तम आध्यात्मिक अनुभूतियों को व्यक्त करते समय तिरुमूलर की कविता दुरूह हो जाती है। फिर भी अव्यक्त को काव्य द्वारा अभिव्यक्त करने वाले स्वानुभूतिशील सन्तों में तिरुमूलर का स्थान बहुत ऊँचा है।

वैष्णव सन्त कवि

वैष्णव सन्त कवि 'आळ्वार'—रक्षक—कहलाते हैं। ऐसे बारह आळ्वारों द्वारा रचित चार हजार कविताओं का बृहत् संग्रह 'नालायिरं दिव्य प्रबन्धम्' कहलाता है।

इनमें तीन सन्त 'मुदलाळ्वार' आदि भक्त—बताये जाते हैं : पोयूगै आळ्वार, पूदत्ताळ्वार और पेयाळ्वार। इन तीनों के तीन शतक 'तिरुवन्दादि' के नाम से विख्यात हैं। वेण्बा छन्द में रचित ये तीनों शतक भाषा-सौष्ठव एवं अर्थ-गाम्भीर्य की दृष्टि से उच्चकोटि के काव्य हैं। स्थानाभाव के कारण प्रत्येक शतक की एक-एक कविता का भाव यहाँ देकर ही सन्तोष करना पड़ेगा।

"भक्त जिस रूप को चाहते हैं, वही उसका रूप है। जिस नाम को चाहते हैं, वही उसका नाम। भक्त जिस ढंग से भी उपासना करें, उसी ढंग से चक्रधर विष्णु उनका उपास्य बन जाता है।"[1]

"प्रेम के दिये में अभिलाषा का घी डाल, स्निग्ध हृदय की बाती लगा, स्नेह-द्रवित आत्मा के साथ मैंने नारायण के सम्मुख ज्ञान-दीप जलाया।"[2]

"वह ईश्वर है। पृथ्वी, आकाश, आठों दिशाओं, वेद, वेदार्थ, सर्वत्र अन्तर्निहित है। पर आश्चर्य यह है कि उसका निवास है मेरे हृदय में।"[3]

भक्ति-काव्य द्वारा स्निग्ध वात्सल्य रस प्रवाहित करने वाले वैष्णव सन्त

---

१. पोयूगै आळ्वार।

२. पूदत्ताळ्वार।

३. पेयाळ्वार।

न केवल स्वयं काव्य-रचना की, अपितु अपने से पहले के सन्त कवियो की रचनाओं को सुरक्षित रखने में भी योग दिया। उनके एक दशक के आधार पर बाद में कवि *शेक्किळार* ने 'पेरियपुराणम्' के सुन्दर काव्य की रचना की, जिसमें सभी शैव सन्तों की जीवन-कथाएँ वर्णित है।

इस प्रसंग में एक अन्य शैव सन्त कवि का भी उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है। ये हैं *तिरुमूलर* जिनकी तीन हजार आध्यात्मिक कविताएँ **'तिरुमन्दिरम्'** (पवित्र मन्त्र) के नाम से विख्यात हैं।

तिरुमूलर एकान्त-सेवी तपस्वी थे और उन्होंने अपनी तपः पूत आध्यात्मिक अनुभूतियों एवं दार्शनिक विचारों को मधुर कविताओं के रूप में प्रकट किया। तिरुमूलर की कविताओं में सूत्रों का-सा भाषा-संयम एवं गहन तत्त्वार्थ पाया जाता है। सरल रूपकों द्वारा गूढ़तम आध्यात्मिक तत्त्वों का प्रतिपादन करना तिरुमूलर की विशेष प्रतिभा है।

"काठ को छिपाया मदमस्त हाथी ने,
काठ में छिप गया मदमस्त हाथी।
'परम्' को छिपाया पाँच बड़े भूतों ने,
'परम्' में छिप गए पाँचों बड़े ...

पाँचों भूतों का बना यह बाह्य जगत को छिपाये हुए है। परन्तु ज्यों ही ... तत्त्व का बोध हो जाता है, त्यों ही ये ... हैं और ईश्वर ही सर्वत्र व्याप्त ... हाथी की मूर्ति में निहित काठ का ... है और काठ ही दृष्टिगत होता है

तिरुमूलर विश्व-प्रेम के ... करते हैं कि :

"मतिहीन कहते हैं, प्रेम ...
है, यह कोई नहीं समझता।
... प्रेमरूपी शिव बनकर ...

कहीं-कहीं गूढ़तम आध्यात्मिक अनुभूतियों को व्यक्त करते समय तिरुमूलर की कविता दुरूह हो जाती है। फिर भी अव्यक्त को काव्य द्वारा अभिव्यक्त करने वाले स्वानुभूतिशील सन्तों में तिरुमूलर का स्थान बहुत ऊँचा है।

वैष्णव सन्त कवि

वैष्णव सन्त कवि 'आळ्वार'—रक्षक—कहलाते हैं। ऐसे बारह आळ्वारों द्वारा रचित चार हजार कविताओं का बृहत् संग्रह 'नालायिर दिव्य प्रबन्धम्' कहलाता है।

इनमें तीन सन्त 'मुदलाळ्वार' आदि भक्त—बताये जाते हैं : पोयूगै आळ्वार, पूदत्ताळ्वार और पेयाळ्वार। इन तीनों के तीन शतक 'तिरु-वन्दादि' के नाम से विख्यात हैं। वेण्बा छन्द में रचित ये तीनों शतक भाषा-सौष्ठव एवं अर्थ-गाम्भीर्य की दृष्टि से उच्चकोटि के काव्य हैं। स्थानाभाव के कारण प्रत्येक शतक की एक-एक कविता का भाव यहाँ देकर ही सन्तोष करना पड़ेगा।

"भक्त जिस रूप को चाहते हैं, वही उसका रूप है। जिस नाम को चाहते हैं, वही उसका नाम। भक्त जिस ढंग से भी उपासना करें, उसी ढंग से चक्रधर विष्णु उनका उपास्य बन जाता है।"[1]

"प्रेम के दिये में अभिलाषा का घी डाल, स्निग्ध हृदय की वार्ती लगा, स्नेह-द्रवित आत्मा के साथ मैंने नारायण के सम्मुख ज्ञान-दीप जलाया।"[2]

"वह ईश्वर है। पृथ्वी, आकाश, आठों दिशाओं, वेद, वेदार्थ, सर्वत्र अन्तर्निहित है। पर आश्चर्य यह है कि उसका निवास है मेरे हृदय में।"[3]

भक्ति-काव्य द्वारा स्निग्ध वात्सल्य रस प्रवाहित करने वाले वैष्णव सन्त

१. पोयूगै आळ्वार।
२. पूदत्ताळ्वार।
३. पेयाळ्वार।

कवि पेरियाळ्वार, ईसा की छठी शताब्दी में हुए माने जाते हैं। पेरियाळ्वार नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे, फिर भी, श्रीकृष्ण के शिशुरूप और सारल्य ने ही उनके भावुक हृदय को सबसे अधिक आकर्षित किया। माता यशोदा के मन के हर उद्गार को, उसके प्रत्येक उच्छ्वास-निःश्वास को, पेरियाळ्वार ने हृदय-द्रावक मार्मिकता के साथ अद्भुत सौन्दर्यमय कविताओं में अंकित किया है।

कृष्ण-शिशु के कितने मनोहर रूप, कितनी मधुर लीलाएँ इन कविताओं में वर्णित हैं! कृष्ण-जन्म के कुछ ही दिन बाद यशोदा सहेलियों से शिकायत करती है:

"पालने में छोड़ो, तो ऐसा पद-प्रहार करता है कि उसके टूटने का डर होने लगता है। गोद में उठा लूँ तो कमर तोड़ देता है। छाती से लगा लूँ तो पेट फाड़ देता है। मुझसे नहीं होती इसकी सार-सँभाल, सखी, मैं क्या करूँ?"

कृष्ण अब कुछ बड़ा हो चला है और घुटने के बल रेंगने लगा है। रेंगते-रेंगते बाहर चला जाता है और आकाश में चन्दा को देखकर उसे बुलाता है। तब माता यशोदा चन्द्रमा को सम्बोधित करके कहती है:

"माथे पर आभूषण डोल रहा है, सोने की किंकिणी मधुर निनाद कर रही है और मेरा लाल गोविन्द धूल में घुटने के बल रेंगता हुआ खेल रहा है। यदि तुम्हारे आँखें हैं, तो, हे चन्द्र, मेरे नन्हे की लीला देखने यहाँ उतर आओ।"

इसके बाद यशोदा बच्चे को गोद में उठा लेती है और कहती है:

"सुन्दर मुख से अमृतसम लार टपक रही है। और मेरा लाडला तोतली बोली से तुम्हें पुकार रहा है। मेरे सर्वप्रिय दुलारे के यों बुलाने पर भी तुम न आओ, तो, हे तेजोमय चन्द्र! तुम्हें बहरा ही समझना होगा।"

कान्हा के एक दाँत फूटा है और वह मधुर हँसी हँस रहा है। यशोदा उस छवि को देखकर कहती है:

"लालिम आकाश में उगने वाले तीज के चाँद की नोक की भाँति

हँसने वाले लाल-लाल नन्हें मुँह के अन्दर से सुन्दर दन्त-अंकुर फूट रहा।"

कान्हा धीरे-धीरे चलने लगा है। यशोदा बैठी है। कान्हा खिलखिलाकर हँसता हुआ आकर उससे लिपट जाता है और उसे प्यार करता है। उसके मुँह से इक्षु-रस-सी लार की धारा वह रही है। वह शिशु-चुम्बन माँ के हृदय में अमृत प्रवाहित कर देता है।

फिर कभी माता यशोदा कान्हा को गोद में लेने के लिए लालायित हो उठती है और उसे बुलाती है। कान्हा उसकी ओर वेग से चला आता है। तब "उसकी घुँघराली काली लटें उसके प्रवाल सम होठों पर लग-लगकर अलग हो जाती हैं, मानो लाल कमल का मधु-पान करने वाले भौंरे हों।"

कान्हा ज्यों-ज्यों बड़ा होता जाता है, उसकी लीलाएँ भी व्यापक होती जाती हैं। कान्हा के जन्म के बाद यशोदा के घर में "न घी कहीं सुरक्षित रह पाता है, न दूध, न दही, न मक्खन!" कान्हा पड़ोस के बच्चों से झगड़ा करने के बाद चुपके से घर आ जाता है। पड़ोसिनें अपने रोने वाले बच्चों को साथ लेकर यशोदा को घेर लेती हैं और शिकायत करती हैं। उधर यशोदा इस हो-हल्ले से परेशान हो रही है और इधर कान्हा उसका मजा लेता हुआ हँस रहा है।

शाम को गाएँ घर लौटती हैं और दूध दुहने के लिए बछड़े खोल दिये जाते हैं। पर कान्हा माने, तब न! वह चिउँटियाँ पकड़-पकड़कर बछड़ों के कानों में डाल देता है और वे घबराकर भाग जाते हैं। तो यशोदा कहती है: "अब तुझे मक्खन मिल चुका।"

कान्हा, पड़ोस के घरों से मक्खन चुराकर ही नहीं खाता, बल्कि खाने के बाद खाली घड़ों को पत्थर पर दे मारता है और उनके टूटकर बिखरने की आवाज पर खुश होकर तालियाँ बजाता हुआ नाच उठता है।

पहली बार जब कान्हा गौएँ चराने जंगल की ओर चल पड़ता है, तब यशोदा का कलपना और सायंकाल को ठीक समय उसके न लौटने पर उसकी

चिन्ता और घबराहट का वर्णन हृदक-द्रावक है।

यमुना-तट पर बंसी बजाने वाले कान्हा के जो काव्य-चित्र पेरियाळवार ने खींचे हैं, बड़े-बड़े चित्रकार तूलिका के सहारे उनको पट पर उतारने का प्रयास करके हार गए। रविवर्मा ने एक-दो सुन्दर चित्र इन कविताओं के आधार पर बनाये हैं, परन्तु वे भी पेरियाळवार के काव्य-चित्रों के सामने बड़े ही निर्जीव लगते हैं। एक चित्र यह है :

"बायाँ चिबुक बायें कन्धे पर लग रहा है। दोनों हाथों की कोमल उँगलियाँ बंसी पर चल रही हैं। भौंहें बंकिम हैं। लाल कमल पर मँडराने वाले भौंरों की भाँति, घने, घुँघराले, काले केशों की लटें मुख पर लोट रही हैं और मेघ सम साँवरा कान्हा बंसी बजा रहा है। बंसी की उस तान से मोहित हो, चरने वाले हरिण चरना छोड़कर चित्रवत् जहाँ के तहाँ खड़े हो गए। आधी चरी घास उनके मुँह से निकलकर धीरे से गिर रही है।"

तमिळ-प्रदेश की माताएँ सैकड़ों वर्षों से बच्चों को खिलाते-पिलाते, सुलाते—प्यार करते समय जो मधुर लोक-गीत गाया करती थीं, उनको साहित्यिक रूप देकर पेरियाळवार ने तमिळ-काव्य की महती सेवा की। 'पिळ्ळै तमिळ' कहलाने वाले इन गीतों की शैली को बाद में सैकड़ों तमिळ-कवियों ने अपनाया।

कान्हा के शिशु-रूप का वर्णन करने के द्वारा पेरियाळवार ने जनता में सरसता की मधु धारा प्रवाहित की और प्रत्येक बच्चे में ईश्वर के दर्शन करने की महती शिक्षा दी। उनकी भाषा में गंगा का-सा प्रवाह है और भाव अगाध भी हैं, सुबोध भी। पेरियाळवार की इसी रस-सरिता ने आण्डाळ रूपी काव्य-लता को सिंचित किया, जिसके कविता-सुमन आज भी साहित्य-वाटिका को सुरभित कर रहे हैं।

वैष्णव सन्त-कवयित्री *आण्डाळ* का भारतीय साहित्य में विशिष्ट स्थान है। कारैक्काल अम्मैयार्, मीरा-जैसी भक्त कवयित्रियाँ विवाहित थीं, जब कि आण्डाळ सोलह वर्ष तक क्वाँरी रहीं और कथानुसार, अपने प्रियतम

विष्णु के साथ सशरीर सायुज्य को प्राप्त हो गईं। इन सोलह वर्षों में उन्होंने मधुर रस से ओत-प्रोत जो अमर कविताएँ रचीं, वही 'नाच्चियार तिरुमोळि' के नाम से विख्यात हैं।

विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से देखने पर इन कविताओं में उत्कृष्ट शृङ्गार-रस मधु-सरिता की भाँति प्रवाहित पाया जाता है। पर वैष्णव सिद्धान्ताचार्य इन कविताओं को गूढ़तम तत्त्वार्थ से भरा बताते हैं। यहाँ तक कि विशिष्टाद्वैतवाद के प्रतिपादक रामानुजाचार्य ने अपने सिद्धान्त को प्रमाणित करने में आण्डाळ की कविताओं से प्रेरणा प्राप्त की।

कहानी इस प्रकार है कि पेरियाळवार एक दिन प्रातःकाल उपवन में पूजा के लिए फूल तोड़ रहे थे कि इतने में एक पारिजात वृक्ष के नीचे, फूलों की सेज पर एक सुन्दर शिशु को पड़ा पाया। इस शिशु को घर ले जाकर पालने की इच्छा को वह संवरण नहीं कर सके। यही शिशु आगे चलकर आण्डाळ के नाम से विख्यात हुआ।

पेरियाळवार की कुटिया के सरस भक्तिमय वातावरण में पलने के कारण बालिका आण्डाळ के कल्पनाशील मन में भगवान् विष्णु का सर्वांग-सुन्दर रूप, अपरिमित शक्ति और सारल्यमय लीलाओं का एक ऐसा जाज्वल्यमान चित्र अंकित हो गया कि उसने अपने को उसी मोहक मूर्ति पर न्योछावर कर दिया। उसके मन के उद्गार, धीरे-धीरे कविता के रूप में प्रकट होने लगे।

प्रचलित प्रथानुसार वह कामदेव का व्रत रखती है और उससे कहती है :

"जैसे ब्राह्मणों के यज्ञ में देवताओं को लक्ष्य करके अर्पित की जाने वाली हवि को कोई जंगली सियार सूँघने लगे, वैसे ही, चक्रधर, शंखधर भगवान् को लक्ष्य करके उभरे हुए मेरे उरोजों को यदि मानवों के उपभोग्य बनाने की चर्चा चली, तो हे मन्मथ! मैं जीवित नहीं रहूँगी।"

फिर आण्डाळ, कल्पना के यान में काल और देश की सीमाएँ पार

करके, वृन्दावन की गोपिका बन जाती है और कान्हा से तरह-तरह के खेल खेलती है। कभी कान्हा, आण्डाळ और अन्य ग्वालिनों द्वारा बनाये गए घरौंदों को तोड़-फोड़कर भाग जाता है। कभी आँगन में छिपकर खेलने वाली गोप-कन्याओं के बीच में अचानक कहीं से आकर ऐसी लीलाएँ करता है, जिनकी चर्चा तक करते हुए वे शरमाती हैं। कभी कान्हा, जल-क्रीड़ा करने वाली कन्याओं के चीर हरकर पेड़ पर चढ़ जाता है और उन्हें रुला-रुलाकर तंग करता है।

अचानक यह मधुर कल्पना भंग हो जाती है और आण्डाळ अकेली रह जाती है। वह कुटिया से बाहर निकलती है और चारों तरफ़ देखती है। आधी रात। आकाश में काले बादल छाये हुए हैं। शीतल पवन चल रही है। तो वह मेघों को सम्बोधित करके कहती है :

"नीले कालीन की भाँति आकाश में बिछे हुए हे मेघो, मुक्ता-निधि बरसाने वाले हे दानियो, तुम्हीं बताओ! सुन्दर साँवरे की बात क्या रही? हृदय में कामाग्नि जल रही है और मलय पवन के रूप में बाहर भी अग्नि-धारा बह रही है। इस आधी रात में मैं इस तरह दोनों ओर से झुलस रही हूँ। मेरी इस दशा पर तनिक तरस तो खाओ!"

वर्षा हुई। पेड़-पौधे लहलहा उठे। रङ्ग-बिरंगे फूल, उन पर इन्द्र-धनुष-सम वर्ण-जाल छितराने वाली तितलियाँ। सारी प्रकृति हर्षातिरेक से मस्त। 'विरहिणी' आण्डाळ को ऐसा लगता है कि प्रकृति उसकी दयनीय दशा पर हँसकर खिल्ली उड़ा रही है :

"लड़ाके हाथी भी मस्ती में आकर आपस में खेल रहे हैं। उपवन में कुसुमित जूही की लताएँ धवल हँसी हँस रही हैं। श्वेत सुमनों से लदी जंगली बेलें मानो खिलखिलाकर हँस रही हैं और कह रही हैं 'तुम अब हमसे नहीं बच सकतीं।' उस (प्रियतम) ने मेरी यह दशा कर रखी है, सखी! किससे करूँ फरियाद?"

भगवन्-प्रेम से आण्डाळ अब सम्पूर्ण रूप से विभोर हो गई। प्रियतम की अधर-मधु का आस्वादन करने की उत्कट इच्छा उसे उन्मन बनाये दे

रही है। झट उसे स्मरण हो आता है कि पांचजन्य शंख, जो विष्णु के हाथ में शोभा पा रहा है, उस अधरामृत का पान अक्सर करता रहता है। अतः उसी पांचजन्य को सम्बोधित करके वह पूछती है :

"लालसावश पूछती हूँ, सखे शंख, जरा बताओ तो। मेघ वर्ण माधव के अधर रस का स्वाद है कैसा ? कापूर या कमल-सा सुगन्धयुक्त, अथवा मधुर मिठास भरा ? बताओ तो हे धवल, माधव के प्रवाल-सम अधर का रस है कैसा ?"

इस प्रकार अलौकिक प्रेम में आत्म-विभोर होने पर भी, आण्डाळ मर्यादाशील कुल की मानव-कन्या थी, अतः जब उसे "सपने में साईं मिलते हैं," तो विधि पूर्वक विवाह करके उसे अपनाते हैं। परमात्मा से अपने विवाह के स्वप्न का विशद वर्णन आण्डाळ ने दस सुन्दर कविताओं में किया है।

इस प्रसंग में आण्डाळ के पोषक पिता पेरियाळवार का यह वेदनामय उद्‌गार सहज ही स्मरण हो आता है :

"इकलौती बिटिया मेरी। श्री सम पाला था उसे मैंने। पर मदभरे अरुणिम नैनों वाला माधव उसे हर ले गया !"

तमिळ-वैष्णव-सन्त-कवियों में *तिरुमंगै आळ्वार* का स्थान निराला है। वह शैव सन्त अप्पर के समकालीन थे और उनके घनिष्ठ मित्र भी। क्षत्रिय थे, एक छोटे राज्य के राजा भी, पर उसे त्यागकर उन्होंने भक्ति-मार्ग को अपनाया था। उनकी भक्ति "आक्रमणकारी" थी। कहानी इस प्रकार है कि तिरुमंगै आळ्वार अपने चार साथियों समेत डाका डालते थे और धन को मन्दिरों के निर्माण तथा विष्णु-भक्तों के आराधन में खर्च करते थे। उनकी चोरियों-चालाकियों के बारे में सैकड़ों दन्त-कथाएँ प्रचलित हैं, जिनके अन्दर उनका वास्तविक व्यक्तित्व एवं प्रतिभा दब-सी गई हैं।

तिरुमंगै आळ्वार तमिळ एवं संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे और सहृदय कवि एवं प्रकृति-प्रेमी भी। तमिळ की कोई भी काव्य-शैली ऐसी नहीं जिसमें उन्होंने मधुर कविताएँ न रची हों। उनकी कविताओं में माधुर्य एवं दास्य भाव समान रूप से पाये जाते हैं। काव्य-रचना की अद्‌भुत प्रतिभा के

कारण उनको 'नालु कविप्पेरुमाळ्' (काव्याचार्य) भी कहा जाता है।

तिरुमंगै आळ्वार ने विष्णु के दसों अवतारों की स्तुति गाई है। पर रामावतार पर वह सबसे अधिक मुग्ध होते हैं। इसका कारण भी उनकी एक कविता में स्पष्ट किया गया है।

"यह गरीब है, व्याध है, नाव चलाने वाली असंस्कृत जाति का है, यह विचार नहीं किया तुमने और उसे छाती से लगाकर ममता के साथ कहा, 'यह हरिणी सम नैनों वाली (सीता) तुम्हारी भाभी है, यह मेरा भाई तुम्हारा भी भाई है और तुम हमारे भाई हो।' तुम्हारी इसी भक्तवत्सलता पर मुग्ध होकर मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ...."

इस प्रकार ईश्वर के एक विशिष्ट रूप की उपासना करने पर भी, तिरुमंगै आळ्वार, ईश्वरीय तत्त्व के विश्व रूप से भी अनभिज्ञ नहीं थे। कहते हैं :

"सृष्टि, स्थिति और संहार के अधिनायक त्रिमूर्तियों के स्वरूपों का जब हम मनन करते हैं तो ब्रह्मा का स्वर्णिम, विष्णु का सागर सम तथा शिव का अग्निमय रूप हमें दृष्टिगत होता है। जब हम इन तीनों रूपों की समग्र ज्योति को देखते हैं तो हमें यह बोध होता है कि इस सुरम्य संसार में पाँचों भूतों के रूप में व्याप्त परम ज्योति श्याम वर्ण नारायण की ही ज्योति है।"

सुमधुर कविताओं द्वारा आध्यात्मिक तत्त्व का विवेचन करने वाले वैष्णव सन्त कवियों में *नम्माळ्वार* को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। विद्वानों के मतानुसार नम्माळ्वार ईसा की ६वीं शताब्दी में हुए थे।

कथानुसार नम्माळ्वार जन्म से ही आत्मज्ञानी थे और विष्णु मन्दिर के प्रांगण में खड़े एक इमली के पेड़ के खोखल में बैठकर तपस्या करने लगे। आज भी आळ्वार तिरुनगरी नामक स्थान में स्थित विष्णु-मन्दिर में एक वयोवृद्ध इमली का पेड़ है, जो नम्माळ्वार के तपस्या करने का स्थान बताया जाता है।

धार्मिक भावनाओं से परे रहकर, केवल साहित्यिक दृष्टि से नम्माळ्वार

की कविताओं को देखा जाय तो उनकी अद्भुत कविता-चातुरी और भाषा-शैली पाठक को मुग्ध कर देती है। उपनिषदों के-से शब्द-संयम एवं सरलता के साथ, नम्माळ्वार ने विशुद्ध चिन्मय ब्रह्म का ऐसा विवेचन किया है, जो उनकी गहन आत्मानुभूति का द्योतक होने के साथ-साथ तमिळ-भाषा की आश्चर्यजनक अभिव्यंजन-शक्ति का भी परिचय देता है। ऐसी कविताओं का किसी भी भाषा में अनुवाद दुःसाध्य है।

इस प्रकार की विशुद्ध विवेचनात्मक कविताओं के साथ-साथ नम्माळ्वार ने माधुर्य रस से भरी कविताओं द्वारा भी जीवात्म-परमात्म-सम्बन्ध की रोचक व्याख्या की है। इसमें एक विशेषता यह है कि कभी नम्माळ्वार स्वयं प्रेमिका बन जाते हैं, फिर कभी प्रेमिका की माँ। इन कविताओं में मुक्ति-पथ पर चलने वाले जीव के क्रमिक विकास का अत्यन्त मार्मिक वर्णन इस प्रकार किया गया है कि सामूहिक रूप से पढ़ने पर उनमें प्रबन्ध-काव्य का-सा आनन्द आता है।

नम्माळ्वार की प्रेमिका, प्रारम्भ में प्रियतम विष्णु को अपने से भिन्न और दूर समझती है। बाह्य जगत् भी उसे अपने से भिन्न ही लगता है। पर प्रेमानुभूति जब कुछ और तीव्र होती है तो प्रेमिका बाह्य जगत् को अपना सहायक मित्र समझती है और कोयल, भ्रमर, बगुला, हंस आदि को अपनी प्रेम-कहानी सुनाकर दूतों के रूप में प्रेमी के पास भेजती है। इसके बाद यह आश्चर्यजनक सत्य उस पर प्रकट होता है कि समस्त सृष्टि, उसी-की भाँति प्रेमी से एकाकार होने के लिए लालायित है। सागर सदा लहरें मारता हुआ, उसीकी याद में बिन सोये रात-दिन जागता है। मेघ, उसी-के विरह में अश्रु-वर्षा कर रहे हैं। वायु उसीकी खोज में सदा चलायमान रहती है। पंछी और भ्रमर उसीकी स्तुति गा रहे हैं। इस प्रकार नम्मा-ळ्वार की प्रेमिका, समस्त प्रकृति में अपनी ही छाया को पाती है।

यह अनुभूति जब और तीव्र होती है, तो प्रेमिका को यह बोध होता है कि प्रियतम उसीके हृदय में है। यही नहीं, समस्त विश्व, प्रियतम के अनन्त रूप, अनन्त लीलाएँ, सभी उसे अपना ही रूप व लीलाएँ प्रतीत

उपयोगिता का चित्रण करने के लिए इन काव्यों में भूतों-प्रेतों-पिशाचों की कल्पना से काम लिया जाता है।

कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि विजयी राजा को युद्धोन्माद से बचाने और शान्ति के मार्ग पर लाने के लिए 'परणि' काव्यों की रचना की जाती थी। ये काव्य राजा के सामने, प्रजाजनों की एक विशाल सभा में पढ़कर सुनाये जाते थे, ताकि राजा को और लोगों को यह मालूम हो जाय कि युद्ध में विजय का क्या अर्थ होता है। हजारों युवतियाँ विधवा हो जाती हैं और हजारों बच्चे अनाथ। यह सब किस लिए ? भूतों-पिशाचों और प्रेतों के परिवारों को भोज कराने के लिए।

इसी भाव पर विशेष रूप से बल देने के उद्देश्य से 'परणि'-काव्यों में वीरता को प्रधानता न देकर युद्ध की वीभत्सता को प्रधानता दी जाती है। ऐसे काव्यों मे शयंगोण्डार का 'कलिंगत्तु परणि' सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसमे कलिंग राज्य पर चोळ राजा प्रथम कुलोत्तुङ्गन् की विजय का वर्णन है। उस समय की युद्ध-प्रणाली, सैन्य-विभाग, राज्य-व्यवस्था आदि पर भी इसमे विशद रूप से प्रकाश डाला गया है, अतः इसका ऐतिहासिक महत्त्व भी बहुत है।

बाद में इस शैली में आध्यात्मिक गूढार्थों से पूर्ण कई काव्य रचे गए। जिनमे ओट्टक्कूत्तर द्वारा रचित 'तक्कयाग परणि' उल्लेखनीय है।

कम्बन् की रामायण

११ वीं शताब्दी में, चोळ राजा द्वितीय कुलोत्तुङ्गन् के समय में, महाकवि कम्बन् ने रामायण के अमर काव्य की रचना की, तो उसकी विविध सौन्दर्यमयी आभा के सामने पहले के सभी काव्य फीके पड़ गए। यहाँ तक कि ९ वीं शताब्दी से लेकर १४ वीं शताब्दी ईस्वी तक का दूसरा साहित्य-काल ही 'कम्बन्-काल' के नाम से विख्यात हो गया।

कम्बन् को यह सुयश कैसे प्राप्त हुआ ? तमिळ में रामायण की रचना कम्बन् से पहले भी हुई थी। विद्वान् कि० वा० जगन्नाथन् के अनुसार, संघ-काल में एक रामायण रची गई थी, पर बाद में वह काल-कवलित हो

गई। ९वीं शताब्दी के आस-पास, जैनों की एक रामायण लिखी गई। अतः कम्बन् तमिळ में रामायण के प्रथम रचयिता नहीं थे।

वृत्त छन्दों में बृहत्काव्य की रचना कम्बन् से पहले ही आरम्भ हो चुकी थी, अतः इस दृष्टि से भी कम्बन् को युग-प्रवर्तक नहीं कहा जा सकता।

'शिलप्पदिकारम्' की तरह कम्बन् की रामायण मौलिक रचना नहीं थी, बल्कि महाकवि वाल्मीकि के महाकाव्य के आधार पर लिखी गई थी।

कम्बन् ने अपने से पहले के विभिन्न कवियों के विभिन्न प्रयोगों, उपमाओं-रूपकों एवं शैली को निःसंकोच अपनाया है। विशेषकर कम्बन् की वर्णन-शैली पर 'जीवक-चिन्तामणि' की स्पष्ट छाप है।

इन सब बातों के बावजूद कम्बन् को युग-प्रवर्तक कवि क्यों माना जाता है? कम्बन् के समकालीन कवियों में पुगळेन्दि, ओट्टक्कूत्तर-जैसे कई महारथी थे। उन सबने एक स्वर से कम्बन् को 'कवि-चक्रवर्ती' माना। एक कहानी के अनुसार, ओट्टक्कूत्तर ने स्वयं रामायण की रचना आरम्भ की थी और बाल-काण्ड पूरा कर चुके थे। परन्तु कम्बन् की रामायण को जब उन्होंने सुना, तो अपनी अधूरी रचना फाड़कर फेंक दी। उल्लेखनीय बात यह है कि ओट्टक्कूत्तर वयोवृद्ध थे, बड़े अहंभावी और अत्यन्त ईर्ष्यालु भी। ऐसे कवि एवं कठोर साहित्य-समालोचक ने कम्बन्-जैसे एक युवक की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली। किसी राज-दरबार में कम्बन् का पदार्पण, उस राजा की महान् विजय माना जाता था और उसका उत्सव मनाया जाता था। कम्बन् की रामायण का सम्पूर्ण अध्ययन, "जीवन-भर के संचित भाषा-ज्ञान का महानतम पुरस्कार" माना जाता था।

विद्वानों के मतानुसार, इसके मुख्य कारण संक्षेप में ये हैं—

कम्बन् से दो सौ साल पहले ही वृत्त-छन्दों में बृहत्काव्यों की रचना तमिळ में आरम्भ तो हो गई थी, परन्तु कम्बन् के वृत्त-छन्दों में जो सर्वांगीण रचना-कुशलता, भावानुवर्ती विविधता, सौन्दर्य एवं ओज पाया जाता है, वह उनसे पहले की किसी रचना में नहीं पाया जाता। कम्बन् ने

अपने से पहले के कवियों के प्रयोगों एवं रचना-शैली को अपनाया अवश्य है, परन्तु उनको अपनी अद्वितीय प्रतिभा से इतना चमका दिया है, उनमें ऐसा मोहक सौन्दर्य भर दिया है कि जो मूल कवियों की रचनाओं में नहीं पाया जाता। कम्बन् ने अपने काव्य की कथावस्तु 'वाल्मीकि रामायण' से ही ली है, परन्तु फिर भी, 'वाल्मीकि रामायण' की नींव पर उन्होंने जो काव्य-मन्दिर खड़ा किया है, उसकी अधिकांश शिल्पकारिता मौलिक है।

महान् काव्य-मर्मज्ञ एवं बहुभाषाविद् स्वर्गीय श्री व० वे० सुब्रह्मण्य अय्यर् ने कम्बन् और वाल्मीकि की रचनाओं का तुलनात्मक विवेचन अत्यन्त गवेषणा पूर्वक करके यह सिद्ध किया है कि कई प्रसंगों में कम्बन् वाल्मीकि से कहीं आगे बढ़ गए हैं। उनके मतानुसार कम्बन् सर्वोत्कृष्ट काव्य-शिल्पी थे। उन्होंने आदिकवि वाल्मीकि की रचना का अत्यन्त सूक्ष्म रूप से अध्ययन करके उसकी सभी अनुकरणीय विशेषताओं को अपना लिया और मूल काव्य में जहाँ कहीं भी गठन में, चरित्र-चित्रण में या वर्णन में शिथिलता पाई गई उसे सुधार दिया। सबसे बड़ी बात यह है कि कम्बन् ने वाल्मीकि के संस्कृत-महाकाव्य को इतनी मौलिकता के साथ अपनाया है कि काव्य के पात्र तमिळ-भाषी और तमिळ-संस्कृति में सने-से प्रतीत होते हैं।

कम्बन् की रामायण १०५०० वृत्त-कविताओं से निर्मित काव्य है। विद्वानों के मतानुसार इनमें से लगभग दो हजार वृत्त क्षेपक हैं। इनको छोड़ दिया जाय तो शेष ८५०० कविताओं में गंगा का-सा प्रवाह पाया जाता है।

विद्वान समालोचक एवं काव्य-मर्मज्ञ श्री पी० श्री० आचार्य का मत है कि रामायण कम्बन् के जीवन-भर के परिश्रम का फल है। बाल-काण्ड में हम कम्बन् को शब्दों के ध्वनि-माधुर्य एवं वर्णन-चातुर्य का अधिक प्रदर्शन करते हुए पाते हैं। अयोध्या-काण्ड एवं अन्य काण्डों में भी ये दोनों विशेषताएँ पाई जाती हैं, परन्तु उनमें कवि मानव-हृदय के हर उद्गार, उमंग, तड़पन, स्नेह एवं क्रन्दन को चित्रित करने में अधिक ध्यान देता

है। इस प्रकार कवि की प्रतिभा उत्तरोत्तर विकसित एवं प्रौढ़ होती जाती है और युद्ध-काण्ड में सम्पूर्ण विकास को प्राप्त होती है। इसी कारण श्री पी० श्री० आचार्य कम्बन् के बाल-काण्ड को उसके महाकाव्य-भवन की 'द्वार-वाटिका' कहते हैं।

परन्तु इस 'द्वार-वाटिका' ही में, काव्य-मन्दिर में प्रवेश करने से पूर्व ही, ऐसे अमर सौन्दर्य एवं अलौकिक सुवासयुक्त काव्य-सुमन पाठक का स्वागत करते हैं, जिनका मादक रस उसे मोह लेता है। स्वभावोक्ति और अतिशयोक्ति का सम्मिश्रण, ध्वनि एवं भाव का सामंजस्य, तारा-मण्डल में विहार कराने वाली कल्पना की उड़ान, सब मिलकर पाठक को रस-विभोर कर देते हैं। कौशल राज्य का वर्णन करते-करते अचानक कवि हमें एक काल्पनिक भू-स्वर्ग में ले जाता है, जहाँ :

"अशिक्षित कोई नहीं था, इस कारण न कोई विद्या-पारंगत था और न कोई अपण्डित ही। सभी सब प्रकार के ऐश्वर्य से सम्पन्न थे, अतएव न कोई अभाव-ग्रस्त था और न कोई धनी ही।"

कम्बन् की महत्ता से अंग्रेजी शिक्षित लोगों को परिचित कराने में स्वर्गीय श्री व० वे० सुब्रह्मण्य अय्यर का बड़ा हाथ था। वह संस्कृत, तमिळ, अंग्रेजी, फ्रेञ्च, फ़ारसी और हिन्दी के पारंगत विद्वान् थे और प्रतिभावान कलाकार एवं काव्य-मर्मज्ञ भी। यहाँ पर कम्बन् के महाकाव्य की खूबियों पर प्रकाश डालने में, श्री अय्यर की अंग्रेजी पुस्तक 'Kamba Ramayanam—A Study'[1] से काफी सहायता ली गई है।

'वाल्मीकि-रामायण' में धनुष-भंग से पूर्व राम और सीता के परस्पर-दर्शन का उल्लेख नहीं है। पर यह तमिळ-परम्परा के विरुद्ध था कि राम-जैसे राजकुमार और सीता-जैसी राजकुमारी पूर्व-प्रेम के बिना ही विवाह-बन्धन में एक हो जायँ। अतएव कम्बन् ने मूल कथा में कुछ परिवर्तन किया है।

विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण के मिथिला पहुँचने से पूर्व ही

---

१. तमिळ-संघम् नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित।

उनकी शौर्य-गाथा से मिथिलावासी परिचित हो गए थे, अतः दशरथ-पुत्रों के दर्शनार्थ वीथियों में अपार जन-समूह एकत्रित था। राम के गुणों की कथा से परिचित राजकुमारी सीता भी, उत्सुकतावश उनके दर्शन करने के लिए भवन के लता-गृह में सहेलियों के संग खड़ी थी। चतुर विश्वामित्र राम-लक्ष्मण को उसी रास्ते से ले आये। राम, जो सीधी निगाह किये चल रहे थे, अचानक किसी अलौकिक आकर्षण से खिन्च गए और उस ओर देखा। ठीक उसी समय सीता ने भी उनको देखा। दोनों की आँखें चार हुईं। बाद में बहुत देर तक दोनों अपनी दृष्टि एक-दूसरे से हटा नहीं सके। सीता "ज्योति लोक की सम्राज्ञी-सी खड़ी थी, जिसके दर्शन-मात्र से पाषाण भी प्रेम-स्निग्ध हो, द्रवित हो जाते थे। उसकी कमनीय देह में विराजमान होकर सौन्दर्य-देवी भी एक नये ही लावण्य से उद्भासित हो रही थी।....."

इसी प्रथम दर्शन के कारण, बाद में धनुष-भंग के प्रसंग में, राम ने धनुष को इतनी मृदुता से उठाया मानो वह "अर्ध-विकसित सुमनों की वह वरमाला हो, जिसे सीता अपने कंकण-भूषित स्वर्णिम करों से पहनाने के लिए बढ़ा रही हो।" चरित्र-चित्रण में कम्बन् की असाधारण प्रतिभा के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। परन्तु स्थानाभाव के कारण यहाँ बहुत संक्षेप में ही उसकी चर्चा की जा सकेगी।

महाकवि वाल्मीकि ने रावण के रूप में एक ऐसे पात्र का सृजन किया है, जो वेदविद् था, अनुपम वीर था, वीरोचित सौन्दर्य से युक्त था, कठोर तपस्या करके अलौकिक वर प्राप्त कर चुका था, असाधारण बली था और 'दिग्विजयी' भी। उसमें दर्प और अहम्मन्यता कूट-कूटकर भरी थी। परन्तु ऐसे रावण के सम्मुख जब उसकी बहन शूर्पणखा, लक्ष्मण द्वारा अंग-भंग होने के बाद आती है, तो वाल्मीकि का रावण काठ का पुतला-सा उसे देखता हुआ बैठा रहता है। शूर्पणखा बिना किसी भूमिका के उसकी भर्त्सना करने लगती है और कहती है :

"भैया, अब भी तुम अपनी स्वार्थी इच्छाओं की ही पूर्ति में, भोग-

विलास में मग्न रहोगे ? क्या तुम्हारी उनींदी आँखें अब भी उस भावी की ओर ध्यान नहीं देंगी जो तुम्हारे अनिष्ट की सूचना दे रही है···?"

इस प्रकार लम्बी तकरीर झाड़ने के बाद अन्त में शूर्पणखा कहती है :

"दूसरों की तो बुराई तुम करते रहते हो, पर स्वयं निकृष्ट इच्छाओं के दास बने हुए हो। काल और देश के अनुसार जो भी कर्तव्य सामने आये, तुमने उनमें से किसी को नहीं निभाया।"

अपनी बहन के मुख से ऐसी निरर्थक बौछार सुनने के बाद भी वाल्मीकि का रावण कुछ नहीं कहता। कवि कहते हैं :

"असीम शक्ति एवं ऐश्वर्य से सम्पन्न, अपनी शासन-सत्ता के अभिमानी निशाचर-पति ने (बहन की बातों पर) बहुत देर तक गम्भीर विचार किया।"

महा प्रतापी रावण, दिग्गजों से जूझकर उनके दाँत खट्टे करने वाला रावण, जिसके भ्रू-भंग से देवता भी थर-थर काँपते थे! उसका यह अपाहिजों का-सा व्यवहार!

कम्बन् ने अपने काव्य में इस सारे प्रसंग को दूसरे ढंग से प्रस्तुत किया है, जिससे रावण का चरित्र निखर उठा है। अंग-भंग के बाद शूर्पणखा का लंका-प्रवेश ही कितनी सजीव स्वाभाविकता के साथ चित्रित है :

"वह नगर के उत्तरी द्वार से प्रविष्ट हुई। उसके दोनों हाथ प्रार्थियों की भाँति सिर के ऊपर जुड़े हुए थे। जिन राक्षसों ने उसे देखा, वे मारे क्रोध के लाल हो उठे। कुछ ने कड़क की भाँति गरजकर कुछ कहा। कुछ और तो क्रोधातिरेक के कारण बोल ही न सके। उनकी आँखों से ज्वालाएँ निकलीं और होठों में दाँत गड़ गए। किसी ने कहा, 'यह किसकी करतूत हो सकती है—इन्द्र की, या ब्रह्मा की, या फिर शिव की ?' दूसरों ने कहा, 'निखिल विश्व में किसका इतना साहस हो सकता है कि ऐसा काम करे ?···' "

"सारी लंका में वीणा और मृदंग, बाँसुरी और शंख सब तत्काल चुप हो गए।····"

लंकावासी रावण की विजय को अपनी विजय और उसके अपमान को अपना अपमान समझते थे—वह इतना लोकप्रिय शासक था। शूर्पणखा का यह अपमान लंका के इतिहास में अभूतपूर्व, अविश्वसनीय घटना थी।

शूर्पणखा इस प्रकार चलकर रावण की राज-सभा में पहुँची और उसके आगे ऐसे गिर पड़ी, जैसे पर्वत के चरणों पर काली घटा। उसने एक शब्द भी मुँह से नहीं निकाला। कम्बन् के रावण ने ज्यों ही यह देखाः

"उसके होंठ दाँतों के नीचे दब गए। दसों मुखों से धुआँ निकला। मूँछें फड़कने लगीं। और साँस के साथ ज्वालाएँ निकलीं। उसने दाँत पीसे तो उनमें से मानो बिजली कौंध गई। कड़क की तरह गरजकर उसने पूछा, 'किसकी करतूत है यह ?' "

शूर्पणखा ने धीरे-धीरे सारा हाल उसे बताया। जब उसने यह कहा कि दो मनुष्यों ने यह काम किया, तो रावण उस पर विश्वास नहीं कर सका और ठहाका मारकर हँसा। पर जब उसने अन्त तक की कहानी सुनी, तो उसके दर्प को ऐसी ठेस पहुँची कि वह चीख उठा :

"प्राण-सम प्यारी बहन का अंग-भंग किया, मनुष्यों ने ! फिर भी वे मरे नहीं हैं। तिस पर भी रावण जीवित है—हाथों में खड्ग लिये, निर्लज्ज-सा। उसकी आँखें नीची नहीं, न उसके सिर ही झुके हैं। ...रे मन ! लज्जित हो रहा है तू ? इस अभूतपूर्व अपयश का भार कैसे सहे, यह भय है तुझे ? चिन्ता न कर। दस हैं सिर तेरे, और बीस हैं सुदृढ़ भुजाएँ, इस लज्जा-भार को वहन करने में समर्थ !"

कहते-कहते रावण को जब खरदूषण-जैसे राक्षस वीरों का स्मरण हो आता है तो पूछता है : "खर और अन्य राक्षस कर क्या रहे थे ? उन्होंने इन मनुष्य-कीटों का नाश क्यों नहीं किया ?" तब शूर्पणखा उनके भी संहार का हाल सुनाती है। इसके बाद ही रावण पूछता है : "तुमने क्या किया जो उन्होंने इस प्रकार तुम पर हाथ उठाया ?"

तब शूर्पणखा, सीता के अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन करती है और कहती है कि मैंने उसे ले जाकर तुम्हारी भेंट करना चाहा, जिसका यह

फल मुझे भुगतना पड़ा।

शूर्पणखा सीता के लावण्य का ऐसा चित्र खींचती है कि रावण उसके प्रभाव में आकर कामातुर हो जाता है। यहाँ तक कि :

"क्रोध, शौर्य, लज्जा सब उसके हृदय से ओझल हो गए। ठीक उसी प्रकार, जैसे पाप का प्रवेश होने पर हृदय के सभी अच्छे उद्गार काफूर हो जाते हैं। अब वासना और उससे उत्पन्न होने वाली पीड़ा, दोनों दो अग्नियों की भाँति उसकी आत्मा में प्रज्वलित हो उठीं।..."

कम्बन् ने इस कुवासना का अति विस्तृत वर्णन किया है, जिससे रावण के बाद के कार्य स्वाभाविक प्रतीत हो सकें। यदि सीता के प्रति रावण की वासना इतनी बलवती न होती, तो उसका अपने परिवार, वंश एवं प्रजाजनों को उस आग में होम कर देना कैसे स्वाभाविक प्रतीत हो सकता था?

युद्ध-काण्ड में कम्बन् ने रावण की अलौकिक वीरता और आत्माभिमान का ऐसा चित्रण किया है जिसके जाज्वल्यमान प्रकाश में उसकी सारी बुराइयाँ कुछ देर के लिए मानो लुप्त हो जाती हैं। अक्ष की मृत्यु के बाद महान् वीर इन्द्रजित् ने जब अत्यन्त नम्रता एवं ममता के साथ यह निवेदन किया कि सीता को लौटाकर इस महानाश का अन्त करो, तो रावण ने कड़ककर कहा :

"....यदि मैं लड़ाई में मारा भी जाऊँ, तो भी राम के साथ-साथ मेरा भी नाम तब तक लिया जायगा न, जब तक संसार में वेद गाये जाते रहेंगे? और फिर मृत्यु से बच कौन सकता है! कौन नहीं मरता? आज हम जीवित हैं; कल हमारा अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। परन्तु यश—कहीं यश भी मर सकता है? ....मैं भले ही मर जाऊँ, पर लज्जाजनक और क्षुद्र कार्य कभी कर सकता हूँ?"

राम के ब्रह्मास्त्र से आहत होकर रावण रण-क्षेत्र में गिरा, तो उसके प्राणों के साथ-साथ उसका क्रोध, वासना, दर्प सब ठण्डे हो गए। कम्बन् कहते हैं :

"न रहा अब उन मुखों पर कुपित सिंह का-सा क्रोध, न वासना-

आन्दोलित मन की झलक। दीप्त थे अब वे संयम की आभा से। वह छवि रावण के उन दिनों की मुख-ज्योति से कहीं अधिक शोभामय थी, जब उसने इन्द्रिय-निग्रह करके ऐसी तपस्या की थी, जिसकी तेजस्विता के सामने आत्मजयी मुनिगण भी हतप्रभ हो गए थे।"

जब रावण के चरित्र के साथ पूर्ण न्याय करने का कम्बन् ने इतना सुरुचिपूर्ण प्रयास किया है, तो काव्य-नायक राम के चरित्र को उन्होंने कितना चमकाया होगा, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। वाल्मीकि के राम, मानव राजा थे, पर कम्बन् के समय तक लोक-कथाओं एवं वैष्णव सन्त कवियों की अमर कविताओं ने पुरुषोत्तम राम को अवतार-पुरुष राम का रूप दे दिया था। अतः कम्बन्, राम के चरित्र में ऐसी दुर्बलताएँ भी दिखा नहीं सकते थे, जो वाल्मीकि ने दिखाई हैं। कथावस्तु को तोड़े-मरोड़े बिना, केवल अपनी काव्य-चातुरी एवं असाधारण सूझ के बल पर कम्बन् ने इस दुःसाध्य कार्य को इतनी सफलता के साथ सम्पन्न किया है कि पढ़कर विस्मय होता है। कम्बन् के राम में दुर्बलताएँ न हों, सो बात नहीं है। पर उन दुर्बलताओं में भी महत्ता की आभा है।

कम्बन् की यह कला-चातुरी, बालि-वध के विवादास्पद प्रसंग में खूब निखर उठी है।

'वाल्मीकि-रामायण' में सुग्रीव से प्रथम मिलन में ही लक्ष्मण उससे कहता है कि राम उसकी "शरण में आए हैं"—"शरणम् गतः"। पर कम्बन् ने उस दयनीय स्थिति में भी राम के लिए ऐसे दैन्य-सूचक शब्द कहना उचित नहीं समझा। अतः कम्बन् के राम सुग्रीव से कहते हैं कि वह "इस महान् संकट में उसकी सहायता के अभिलाषी" हैं।

'वाल्मीकि-रामायण' में मैत्री-संधि के बाद सुग्रीव राम को अपने यहाँ ले जाता है और वहाँ दूसरी बातों के साथ-साथ यह भी बताता है कि बालि ने उसकी पत्नी रुमा का अपहरण कर लिया है। परन्तु कम्बन् ने देखा कि इस प्रसंग का ऐसा निरूपण करने से जहाँ सुग्रीव का चरित्र दुर्बल हो जाता है, वहाँ प्रसंग का नाटकीय सौन्दर्य भी नष्ट हो जाता है। अतएव

उन्होंने इसका दूसरे ढंग से चित्रण किया है।

कम्बन् की रामायण के अनुसार सुग्रीव राम को अपने पर्वतीय भवन में ले जाकर भोज कराता है। तब वहाँ वानर-रानी को न पाकर राम स्वयं सुग्रीव से पूछते हैं कि क्या आपकी दशा भी मेरी-जैसी तो नहीं है? तब भी, इस प्रश्न का उत्तर सुग्रीव स्वयं नहीं देता, बल्कि हनुमान उन्हें सारी बात बताते हैं और अन्त में कहते हैं कि बालि ने सुग्रीव की पत्नी का भी अपहरण किया है। यह अन्तिम वाक्य सुनते ही राम की भृकुटियाँ तन जाती हैं और नेत्र लाल हो उठते हैं। क्योंकि :

"कैसे क्षमा कर सकते थे वह उस जेठे को, जिसने छोटे भाई की पत्नी को बल पूर्वक हर लिया हो और उसके प्राण हरने की ताक में हो?"

बालि-वध में मर्यादा-पुरुषोत्तम राम ने अनुचित उपाय अपनाया था। उसके लिए पर्याप्त कारण प्रस्तुत करना, उसे अपरिहार्य साबित करने के लिए आवश्यक था। यदि सुग्रीव स्वयं अपना दुखड़ा सुनाता, तो जहाँ उसकी आत्म-प्रतिष्ठा भंग होती वहाँ राम पर भी उसका उतना प्रभाव नहीं पड़ सकता था। अतएव कम्बन् ने 'वाक्धनी' हनुमान के मुख से सुग्रीव की कष्ट-कथा सुनवाकर बालि के प्रति राम के रोष को स्वाभाविक एवं औचित्य-पूर्ण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

इसी प्रकार, बालि पर तीर चलाने की ताक में जब राम झुरमुट में छिपे रहते हैं और बालि और सुग्रीव में द्वन्द्व-युद्ध चल रहा है, तब राम और लक्ष्मण के वार्तालाप द्वारा कम्बन् ने राम के मानसिक संघर्ष का चित्रण किया है।

अन्त में राम-बाण से आहत होकर पड़ा हुआ बालि जब यह पूछता है कि आपने मुझे छिपकर क्यों मारा, तो कम्बन् ने उसका समाधान राम से न दिलवाकर लक्ष्मण से दिलवाया है, क्योंकि राम के मुँह से कुतर्क कहलवाना कम्बन् को सुरुचिपूर्ण नहीं जँचा। लक्ष्मण कहता है :

"जब तुम्हारे भाई ने तुम्हारे अनुचित द्वेष से बचने के लिए हमारी शरण ली तो भैया ने उसे वचन दे दिया था कि वह तुम्हें यमपुर

पहुँचायेंगे। यदि वह, सामने आते तो तुम भी उनके पाँव पड़कर शरण की प्रार्थना करते। शरणार्थियों को अभय देने का भैया का व्रत है, अतः उस स्थिति में वह दुविधा में पड़ जाते। तुम्हें शरण देना वचन-भंग होता और न देना व्रत-भंग। इसी धर्म-संकट से बचने के लिए उन्होंने विवश हो, छिपकर तुम पर तीर चलाया।'

कम्बन् ने प्रधान पात्रों के ही नहीं, गौण पात्रों के भी चरित्र-चित्रण में अद्भुत कलाकारिता एवं सहृदय सूझ का परिचय दिया है। पर उसकी विस्तृत चर्चा करने के लिए यहाँ स्थान नहीं है।

कम्बन् ने वाल्मीकि के महाकाव्य को यद्यपि आवश्यकतानुसार सुधारा है, फिर भी उन आदिम महाकवि के सामने वह अपने को अकिंचन ही मानते थे। वाल्मीकि के प्रति कम्बन् की हार्दिक श्रद्धा का परिचय, उनके महाकाव्य में स्थान-स्थान पर मिलता है। "महाकवि वाल्मीकि, जिनकी मधुमय कविताओं का रसास्वादन करते देवता भी नहीं अघाते," "महा तपस्वी वाल्मीकि," इत्यादि विशेषणों के बिना कम्बन् उनका उल्लेख ही नहीं करते।

कम्बन् की महत्ता इसमें है कि उन्होंने संस्कृत एवं तमिळ-काव्य-शैलियों का समन्वय किया, अपने से पहले के सभी तमिळ-कवियों की अच्छाइयों को अपनाया और मूल काव्य वाल्मीकि रामायण का ज्यों-का-त्यों अनुवाद न करके अपनी सूझ के अनुसार उसकी श्री-वृद्धि की। अपने बहुभाषा-ज्ञान एवं अगाध पाण्डित्य के बल पर कम्बन् ने तमिळ-भाषा में एक नया ही सौन्दर्य, नया ही सौष्ठव भर दिया और उसकी अभिव्यंजन-शक्ति को सौगुना बढ़ाया। यही कारण है कि श्री वैयापुरि पिल्लै-जैसे पारखी काव्य-मर्मज्ञ कम्बन् को "कवि-कुल-भास्कर" मानते हैं।

कम्बन् ने कुछ अन्य रचनाएँ भी की हैं, जिनमें किसानों की प्रशंसा में लिखा 'एर् एळुपदु' (शब्दशः 'हल सत्तरी') उल्लेखनीय है।

नळवेण्बा

कम्बन् के समकालीन कवियों में 'नळवेण्बा' के रचयिता पुगळेन्दि

का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'महाभारत' के अरण्य पर्व में वर्णित 'नलोपाख्यान' के आधार पर पुगळेन्दि ने ४२४ कविताओं का यह लघुकाव्य रचा। अत्यन्त सरल भाषा में वेण्बा छन्द में रचित यह काव्य, असाधारण न होने पर भी सुन्दर है। इसमें नल-दमयन्ती की कथा अत्यन्त रोचक ढंग से वर्णित है। यह काव्य मधुर करुण रस से ओत-प्रोत है।

दमयन्ती को वन में छोड़कर चले जाने का निर्णय करने के बाद नल की मनोदशा का वर्णन बहुत ही मार्मिक है :

"चल पड़ता, चला जाता कुछ दूर, फिर लौटता। पुनः जाने लगता, पर जाते-जाते रुक जाता और लौट पड़ता। उस शत्रुञ्जयी वीर की दशा, उस समय, दही मथने वाली ग्वालिन के हाथों की-सी हो गई।"

आखिर दमयन्ती को सोती छोड़कर नल चल खड़ा होता है और स्थान-स्थान पर घूमता हुआ समुद्र-तट पर पहुँचता है। लहरें मारने वाले सागर को सम्बोधित करके कहता है :

"कभी जाते हो, कभी आते हो। कभी गिरते हो, कभी लौटते हो। लड़खड़ाती ज़बान से सदा प्रलाप करते रहते हो।...हे आन्दोलित सागर! तुम भी पत्नी को रातों-रात कहीं छोड़ आए हो क्या?"

कहा जाता है, पुगळेन्दि ने लोक-गीतों की तर्ज पर 'पुनादिरन् कळवु मालै', 'अल्लि अरशाणि मालै' आदि गीति-काव्यों की भी रचना की थी।

पेरियपुराणम्

कम्बन्-काल की रचनाओं में 'पेरियपुराणम्' का एक विशिष्ट स्थान है। इसके रचयिता *शेक्किळार्* चोळ राजा के मन्त्री थे। उनके काल के बारे में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है, पर अधिकांश विद्वानों का मत है कि वह कम्बन् के बाद के थे और १२ वीं शताब्दी में हुए थे।

'पेरियपुराणम्' बृहत्काव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें किसी एक का नहीं, तिरसठ शैव सन्तों का जीवन-चरित वर्णित है। शैव धर्म

का प्रचार ही इसका एक-मात्र उद्देश्य प्रतीत होता है, यद्यपि स्थान-स्थान पर उत्कृष्ट कवित्व एवं सुन्दर वर्णन भी इसमें पाया जाता है।

'पेरियपुराणम्' की विशेषता इसमें है कि शेक्किळार ने शैव सन्तों के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न दन्तकथाओं के साथ-साथ ऐतिहासिक तथ्यों को भी परिश्रम पूर्वक संकलित करके अपने काव्य में प्रस्तुत किया है। प्रत्येक सन्त के काल की सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक स्थिति का भी वह परिचय देते जाते हैं, अतः इतिहास की दृष्टि से इस काव्य का बड़ा महत्त्व माना जाता है। 'पेरियपुराणम्' की भाषा बहुत ही सरल और सरस है।

परंजोति मुनिवर द्वारा रचित 'तिरुविळैयाडल पुराणम्' भी इसी ढंग का है। उसमें शिवजी की चौंसठ लीलाओं का वर्णन किया गया है।

कम्बन्-काल की एक और उल्लेखनीय बात यह है कि इसी काल में *नाद मुनि* ने वैष्णव सन्तों की तथा *नम्बि आण्डार नम्बि* ने शैव सन्तों की रचनाओं—दिव्यप्रबन्धम् और तेवार—का क्रमबद्ध संकलन किया।

कम्बन् के बाद संस्कृत के स्कन्द, भागवत, कूर्म, मत्स्य एवं विष्णु-पुराणों का तथा महाभारत का तमिळ में विभिन्न कवियों ने पद्यानुवाद किया। इनमें *विल्लिपुत्तूरार्* नाम के प्रसिद्ध कवि द्वारा रचित संक्षिप्त महाभारत काव्य उल्लेखनीय है। परन्तु इसमें भी पाण्डित्य-प्रदर्शन ही अधिक पाया जाता है। विल्लिपुत्तूरार् १४ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुए थे।

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में रचित 'नैडदम्' भी एक उल्लेखनीय ग्रन्थ है। राजा श्रीहर्ष के संस्कृत-काव्य 'नैषध' का यह भावानुवाद है। इसके रचयिता अदिवीरराम पाण्डियन् तमिल [illegible] माने जाते हैं।

: ७ :

मध्य-काल

कम्बन्-काल के अन्त तक तमिळ में सृजनात्मक साहित्य-रचना में अवरोध-सा दिखलाई देने लग गया था। विल्लिपुत्तूरार् के 'महाभारत' के बाद ऐसा कोई बृहत्काव्य नहीं रचा गया, जो साहित्यिक दृष्टि से उच्चकोटि का माना जा सके। चौदहवीं शताब्दी के अन्त से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक प्रायः यही स्थिति जारी रही।

पर इस काल में अनेक टीका-ग्रन्थ रचे गए, जिनसे प्राचीन साहित्य को समझने में बड़ी सहायता मिली। साथ ही, इन टीकाकारों ने तमिळ-भाषा में सुघड़ गद्य-लेखन का सूत्रपात किया। वैसे 'शिलप्पदिकारम्'-जैसे कुछ प्राचीन काव्यों में भी बीच-बीच में गद्य पाया जाता है, पर वह भी गद्य-काव्य-सा ही लगता है। बाद में, ईसा की ६वीं शताब्दी में जैन आचार्यों ने अनेक गद्य-ग्रन्थ मणिप्रवाल—तमिळ व संस्कृत-मिश्रित—भाषा में लिखे, जिनमें 'श्रीपुराणम्' और 'गद्य-चिन्तामणि' उल्लेखनीय हैं। इन सबके होते हुए भी, विशुद्ध गद्य-साहित्य का निर्माण, इन्हीं टीकाकारों से आरम्भ हुआ समझना चाहिए।

ऐसे टीकाकारों में, 'तोल्काप्पियम्' के प्रथम टीकाकार *इलाम्पूरणर्*, 'तिरुक्कुरळ' के टीकाकार *परिमेल्लगर्*, 'तोल्काप्पियम्', 'जीवक-

मुरुगन् पिळ्ळैत्तमिळ्" आदि उनकी रचनाएँ, उनके अपार भाषा-ज्ञान, पद्य-निर्माण-चातुरी, सूझ एवं पाण्डित्य की द्योतक हैं। 'तिरुवारूर् नान्मणि माले' में उनकी गम्भीर चिन्तन-शीलता का परिचय मिलता है तो 'नीतिनेरि विळक्कम्' नामक सूक्ति-ग्रन्थ उनके अनुभव-ज्ञान एवं उपमा-चातुरी को प्रमाणित करता है। कुमरगुरुपरर् की भाषा में एक अनूठा माधुर्य पाया जाता है, जो पाठक को बरबस अपनी ओर खींच लेता है।

कहा जाता है, कुमरगुरुपरर् ने उत्तर-भारत का भी भ्रमण किया था। काशी में उनका स्थापित किया हुआ एक मठ है। वह हिन्दी भी जानते थे।

अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में एक रहस्यवादी महाकवि हुए जो तायुमानवर् के नाम से विख्यात हैं। उनकी भाषा में संस्कृत-शब्दों की भरमार है। फिर भी पढ़ते समय कहीं कोई अड़चन मालूम नहीं होती। अपितु संस्कृत-शब्दों की प्रचुरता से तायुमानवर् की कविताओं में एक अद्वितीय सौन्दर्य आ गया है।

तायुमानवर् दार्शनिक थे, अद्वैतवादी थे और विश्व-प्रेम के प्रचारक भी। उन्होंने ईश्वरीय तत्त्व को सभी धर्मों का उपादेय होते हुए भी उन सबसे परे—धर्मातीत—माना और धार्मिक समन्वय—'समय-समरसम्'—का प्रचार किया।

के नाम से एक काव्य रचा, जिसमें ईसा मसीह का जीवन-चरित वर्णित है। उन्होंने कई सुन्दर गद्य-रचनाएँ भी की हैं।

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में दो और उल्लेखनीय ग्रन्थकार हुए। एक थे *अरुणाचल कवि* जिन्होंने कम्बन् की रामायण को बोल-चाल की भाषा में, कीर्तनों के रूप में प्रचारित किया। ये कीर्तन 'रामनाडग कीर्तनै' कहलाते हैं और आज भी बड़े चाव से गाये जाते हैं।

दूसरे ग्रन्थकार थे *आनन्दरंग पिळ्ळै*, जो पाण्डिचेरी में फ्रेन्च गवर्नर डूप्ले के दुभाषिये थे। उन्होंने तमिळ में जो रोजनामचा लिखा था, वह अभी पचास वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ है। इस अद्भुत व्यक्ति ने, बोल-चाल की भाषा में सरस गद्य-लेखन का इस प्रकार अनजान में ही सूत्रपात कर दिया। तमिळ में अपने ढंग की पहली रचना होने के साथ-साथ आनन्द रंगपिळ्ळै का रोजनामचा, इतिहासज्ञों के लिए भी बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है।

उन्नीसवीं शताब्दी में *रामलिंग स्वामिगळ्* के रूप में, तमिळ भाषा में एक और सन्त महाकवि हुए। रामलिंगर् प्रधानतः भक्त एवं साधक थे और अपनी अनुभूतियों को ही काव्य-रूप में व्यक्त किया करते थे। उनकी कविताओं में प्रवाह है, सहृदय कवित्व है, भाषा-सौष्ठव है और कल्पनातीत सौन्दर्य की झलक है। 'तिरुअरुळ पा' (कृपा-गीत) के नाम से विख्यात उनकी हजारों कविताओं का संग्रह 'नया वेद' कहलाता है और मन्दिरों में गाया जाता है।

रामलिंगर् यद्यपि शैव माने जाते हैं फिर भी तायुमानवर् ही की भाँति वह धार्मिक समन्वय के पक्षपाती थे। वह ईश्वर को "अरुळ पेरुजोदि"—परम कृपा-ज्योति कहते थे और ज्योति-रूप में ही पूजते थे। जो नया मार्ग उन्होंने प्रवर्तित किया था वह "समरस-सन्मार्गम्" कहा जाता है।

रामलिंगर् ने लोक-गीतों की शैली में सैकड़ों मधुर गीत रचे, जो आज भी गाये जाते हैं। उनकी एक गद्य-रचना भी है जिसमें एक प्राचीन चोळ

के नाम से एक काव्य रचा, जिसमें ईसा मसीह का जीवन-चरित वर्णित है। उन्होंने कई सुन्दर गद्य-रचनाएँ भी की हैं।

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में दो और उल्लेखनीय ग्रन्थकार हुए। एक थे *अरुणाचल कवि* जिन्होंने कम्बन् की रामायण को बोल-चाल की भाषा में, कीर्तनों के रूप में प्रचारित किया। ये कीर्तन 'रामनाडग कीर्तनै' कहलाते हैं और आज भी बड़े चाव से गाये जाते हैं।

दूसरे ग्रन्थकार थे *आनन्दरंग पिळ्ळै*, जो पाण्डिचेरी में फ्रेञ्च गवर्नर डूप्ले के दुभाषिये थे। उन्होंने तमिळ में जो रोजनामचा लिखा था, वह अभी पचास वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ है। इस अद्भुत व्यक्ति ने, बोल-चाल की भाषा में सरस गद्य-लेखन का इस प्रकार अनजान में ही सूत्रपात कर दिया। तमिळ में अपने ढंग की पहली रचना होने के साथ-साथ आनन्द रंगपिळ्ळै का रोजनामचा, इतिहासज्ञों के लिए भी बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है।

उन्नीसवीं शताब्दी में *रामलिंग स्वामिगळ्* के रूप में, तमिळ भाषा में एक और सन्त महाकवि हुए। रामलिंगर् प्रधानतः भक्त एवं साधक थे और अपनी अनुभूतियों को ही काव्य-रूप में व्यक्त किया करते थे। उनकी कविताओं में प्रवाह है, सहृदय कवित्व है, भाषा-सौष्ठव है और कल्पनातीत सौन्दर्य की झलक है। 'तिरुअरुळ पा' (कृपा-गीत) के नाम से विख्यात उनकी हजारों कविताओं का संग्रह 'नया वेद' कहलाता है और मन्दिरों में गाया जाता है।

रामलिंगर् यद्यपि शैव माने जाते हैं फिर भी तायुमानवर् ही की भाँति वह धार्मिक समन्वय के पक्षपाती थे। वह ईश्वर को "अरुळ पेरुजोदि"—परम कृपा-ज्योति कहते थे और ज्योति-रूप में ही पूजते थे। जो नया मार्ग उन्होंने प्रवर्तित किया था वह "समरस-सन्मार्गम्" कहा जाता है।

रामलिंगर् ने लोक-गीतों की शैली में सैकड़ों मधुर गीत रचे, जो आज भी गाये जाते हैं। उनकी एक गद्य-रचना भी है जिसमें एक प्राचीन चोळ

राजा की कहानी वर्णित है।

इसी समय श्रीलंका के विद्वान् *आरुमुगनावलर्* ने सुन्दर, सरल एवं सुगठित शैली में सैकड़ों सारगर्भित निबन्ध रचकर आधुनिक गद्य-लेखन का मार्ग-दर्शन किया।

१९वीं शताब्दी के मध्य में महा विद्वान् *मीनाक्षिसुन्दरम् पिळ्ळै* ने अपनी अपार विद्वता के बल पर बीस से अधिक लघुकाव्य रचे। इससे भी बड़ी सेवा उन्होंने यह की कि सैकड़ों ज्ञान-पिपासु युवकों को तमिळ का प्रकाण्ड विद्वान् बनाया। उनके इन शिष्यों में तमिळ की श्री-वृद्धि करने वाले *वेदनायकम् पिळ्ळै*, महामहोपाध्याय स्वामीनाथ अय्यर-जैसे कई महारथी थे, जिनके सुयश के साथ-साथ गुरु मीनाक्षिसुन्दरम् पिळ्ळै का भी नाम प्रख्यात हो गया।

वेदनायकम् पिळ्ळै, अंग्रेजी-शिक्षित ईसाई होने पर भी भारतीय संस्कृति के भक्त थे। तमिळ के सर्वप्रथम उपन्यास 'प्रताप मुदलियार् चरित्रम्" के रचयिता होने का श्रेय आपको है। सरल जन-भाषा में लिखित इस उपन्यास में तत्कालीन धर्म प्रथाओं के जीवन का सुन्दर व्यंग-चित्र खींचा गया है। वेदनायकम् पिळ्ळै ने 'सुगुण-सुन्दरी' नामक दूसरा उपन्यास भी लिखा, पर इस बीच में उनका मन आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर खिंच गया, अतः उपन्यास-क्षेत्र में वह रह गए। उन्होंने 'सर्व-समय-समरस कीर्तनै' के नाम से [illegible]-भाषा में सैकड़ों गीत रचे और कुछ ... सुधारवादी पद भी लिखे।

वर्णन है :

"खेतों के पास ही है 'पुलैयों' (हरिजनों) की यह बस्ती। ताड़ के पत्तों के छप्परों वाली झोंपड़ियाँ। उन पर चढ़ी हुई लौकी की बेल चारों तरफ़ भोंकने वाले कुत्ते। इधर-उधर बिखरे हुए कच्चे मांस के टुकड़े। उनको उड़ा ले जाने की इच्छा से मँडराने वाली चीलें। स्थान-स्थान पर चमड़ों, हड्डियों व नसों के ढेर। बदबू ऐसी कि बखान के बाहर....।"

एक ऐसे समय में, जब पुरानी शैली में, कठिन छन्दों में, तीर्थ-क्षेत्रों के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन से ओत-प्रोत तथाकथित 'पुराणों' को ही साहित्य समझा जाता था, गोपालकृष्ण भारती ने ग्रामीण बोल-चाल की भाषा में लोक-गीतों की शैली में यह गीति-काव्य रचा, तो लकीर-पन्थी विद्वानों ने उसे साहित्य मानने से इन्कार कर दिया, पर जनता ने उसे तत्काल अपनाया। फलतः पुस्तकाकार छपने से पहले ही तमिळ-भाषी प्रदेश के घर-घर में यह काव्य गाया जाने लगा। आज भी शायद ही कोई तमिळ-भाषी ऐसा होगा, जिसे 'नन्दन-चरित्रम्' के कम-से-कम एक-दो गीत कंठस्थ न हों, जब कि 'विद्वानों' द्वारा रचित सैकड़ों 'पुराणों' को पूछने वाला कोई नहीं।

'नन्दन्-चरित्रम्' के ही समकक्ष का एक अन्य गीत-काव्य *तिरिकूडराजप्प कविरायर* नाम के विद्वान् द्वारा रचा गया, वह है 'कुट्राल कुरवंजि'। पहाड़ी व्याधों और ग्रामीण किसान जनता की बोल-चाल की भाषा में अत्यन्त सरस शैली में रचित इस काव्य में शिव और पार्वती के विवाह की कथा मधुर हास्य के साथ वर्णित है।

: ८ :

आधुनिक काल

अंग्रेज़ी राज्य के सुदृढ़ रूप से स्थापित होने के बाद तमिळ-भाषा के सामने एक बड़ी समस्या उपस्थित हुई। उससे पहले हज़ारों वर्षों तक तमिळ-प्रदेश का सारा काम—राज-काज, व्यापार-वाणिज्य तथा अन्य कार्य—तमिळ में ही हुआ करता था। अंग्रेज़ों ने इस व्यवस्था को एकदम समाप्त कर दिया, अतः तमिळ सीखने की साधारण जनता की प्रवृत्ति कम हो गई। दूसरी ओर अंग्रेज़ी की उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले लोग उसकी साहित्यिक छवि की चकाचौंध में इतने विस्मित हो गए कि अपनी भाषा, अपने साहित्य तथा अपनी संस्कृति के प्रति उनके मन में हीन-भावना घर कर गई।

एक ओर यह उपेक्षा। दूसरी ओर भाषा के अन्ध भक्त पण्डित लोग, काल की गति को न पहचानकर, मध्य-काल की बोझिल शैली में, पिटे हुए विषयों पर लिखकर पोथियाँ भरते जा रहे थे। इस प्रकार दोनों तरफ़ से भाषा उत्पीड़ित पड़ी तड़प रही थी। वेदनायकम् पिळ्ळै और गोपालकृष्ण भारती-जैसे कुछ प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने गद्य एवं पद्य में समयानुकूल नवीनता लाने का जो प्रयास किया, उसे पण्डितगण ने भाषा का 'अपमान' समझा!

भाग्यवश कुछ अंग्रेजी-शिक्षित विद्वानों ने इस स्थिति को सुधारने की ओर ध्यान दिया और अंग्रेजी की विशेषताओं—खासकर गद्य-साहित्य की प्रचुरता एवं विविधता को तमिळ में लाने का प्रयास आरम्भ किया। सर्वश्री वी० गो० सूर्यनारायण शास्त्री, सुन्दरम् पिळ्ळै, चि० वै० दामोदरम् पिळ्ळै, राजम् अय्यर, माधवय्या आदि अनेक महारथियों के नाम इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं।

सूर्यनारायण शास्त्री माने हुए पण्डित थे। उनकी भाषा में पण्डिताऊपन की छाया अवश्य थी, फिर भी वही प्रथम तमिळ विद्वान् थे, जिन्होंने साहित्यिक भाषा को बोल-चाल की भाषा के अनुरूप बनाने की आवश्यकता को अनुभव किया। साथ ही तमिळ में विज्ञान, इतिहास-जैसे विषयों पर ग्रन्थों के अभाव को भी उन्होंने अनुभव किया और उस कमी को दूर करने की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। तमिळ में नाटक-ग्रन्थों की कमी को दूर करने का उन्होंने स्वयं प्रयास किया। शेक्सपीयर की शैली का अनुकरण करके उन्होंने 'मान-विजयम्' और 'कलावती' नामक पद्यमय नाटक रचे। *सुन्दरम् पिल्लै* ने भी इसी शैली में 'मनोन्मणीयम्' शीर्षक नाटक लिखा। ये ग्रन्थ नाटक-कला की दृष्टि से उत्कृष्ट न होने पर भी सुन्दर काव्य हैं। शास्त्री जी ने नाटक-कला पर एक सुन्दर लक्षण-ग्रन्थ भी लिखा, जिसमें प्राचीन तमिळ-नाटक-शास्त्र के साथ-साथ पाश्चात्य नाटक-शैलियों का भी विवेचन किया गया है।

इस प्रकार नई साहित्य-रचना के साथ-साथ प्राचीन ग्रन्थों की खोज भी इसी समय आरम्भ हुई। संघ-काल की रचनाएँ, पाँच महाकाव्य, पाँच लघुकाव्य आदि उस समय अप्राप्य थे। ऐसी स्थिति में प्राचीन तमिळ-साहित्य की समृद्धि की बात करना कोरी डींग लगता था। इस शोचनीय दशा को सुधारने में चि० वै० दामोदरम् पिळ्ळै-जैसे महारथियों ने प्रयास आरम्भ किया। परन्तु इस अति कठिन कार्य को जीवन-भर के निरन्तर परिश्रम द्वारा सम्पन्न करने का श्रेय *स्वर्गीय महामहोपाध्याय स्वामीनाथ अय्यर* को है।

यह कार्य सुलभ-साध्य नहीं था। मध्य-काल की राजनीतिक उथल-पुथल के समय, अनेक प्राचीन ग्रन्थों की ताड़-पत्र पर लिखित प्रतियाँ नष्ट हो गई थीं। जो-कुछ बच पाई थीं, वे भी कुछ धनियों के घरों, मठालयों तथा मन्दिरों के संग्रहालयों में ऐसी स्थिति में पड़ी थीं कि उनकी छान-बीन तथा प्रतिलेखन करना कठोर परिश्रम का कार्य था। कई पोथियाँ कीड़ों के आक्रमण के कारण नष्ट हो गई थीं। बाकी पोथियों का भी यह हाल था कि जरा दबाने पर चूर हो जायँ। उन पर की लिखाई इतनी घिस गई थी कि आँखों को यातना पहुँचाए बिना उनको पढ़ना सम्भव नहीं था।

इतना परिश्रम करके पढ़ने के बाद भी कई ग्रन्थ, व्याख्या के अभाव के कारण आसानी से समझ में नहीं आ सकते थे। अतः उनकी व्याख्याओं की अलग खोज करनी पड़ती थी। कई पोथियों में लिखने वालों की असावधानी या अज्ञान के कारण बहुत-सी त्रुटियाँ रह गई थीं। उनको सुधारने के लिए एक ही ग्रन्थ की बीस-बीस पोथियों का तुलनात्मक अध्ययन और सुसम्पादन आवश्यक होता था। 'मणिमेकलै' और 'जीवक-चिन्तामणि'-जैसे बौद्ध एवं जैन-काव्यों को समझने के लिए उन धर्मों के सिद्धान्तों, विश्वासों तथा रूढ़ियों का विशद ज्ञान अनिवार्य था। सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि जिन लोगों के यहाँ ऐसी पोथियाँ पड़ी सड़ रही थीं, वे उन्हें किसी को देना या प्रकाशित कराना पाप समझते थे। अन्ध-विश्वास और निरी मूर्खता के इन अजेय दुर्गों पर विजय पाने के लिए असाधारण लगन, साहस, सहिष्णुता एवं अथक प्रयास की आवश्यकता थी। सदैव नम्रता से काम लेना पड़ता था। अपमान तक सहना पड़ता था।

इन सब कठिनाइयों को किसी प्रकार पार किया भी जाय, तो धनाभाव के रूप में सबसे बड़ी बाधा उपस्थित हो जाती थी। उसे दूर करने के लिए अलग दौड़-धूप करनी पड़ती थी।

महामहोपाध्याय स्वामीनाथ अय्यर की असाधारण परिश्रमशीलता, अध्यवसाय, विद्वत्ता और ध्येय की पूर्ति में सर्वस्व बलिदान करने की भावना

का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि उन्होंने पचास से अधिक प्राचीन ग्रन्थों को, विशद टीकाओं एवं कवि-परिचय के साथ प्रकाशित किया ? निःसन्देह, कुछ धनियों ने समय-समय पर उनकी सहायता की। पर अधिकांश ग्रन्थों के प्रकाशन में उन्हें अपनी और अपने समकक्ष के श्रमजीवी मित्रों की गाढ़ी कमाई का ही पैसा लगाना पड़ा। आरम्भ में यश की भी आशा उन्हें नहीं थी, न वह उसकी परवाह ही करते थे।

श्री स्वामीनाथ अय्यर को प्रामाणिकता का इतना खयाल रहता था कि एक-एक ग्रन्थ की बीस-तीस पाण्डुलिपियों का तुलनात्मक अध्ययन तथा उन पर सैकड़ों विद्वानों से पत्र-व्यवहार द्वारा चर्चा करके सम्पूर्ण समाधान कर लेने के बाद ही उसे वह प्रकाशित करते थे। तमिळ-भाषा के पाण्डित्य एवं साहित्य-ज्ञान में उनके निकट तक पहुँचने की क्षमता किसी अन्य विद्वान् में नहीं थी। फिर भी, वह इतने नम्र थे कि एक-एक शब्द का सही अर्थ जानने के लिए सैकड़ों विद्वानों एवं साधारणजनों से पूछ-ताछ किया करते थे।

महामहोपाध्याय स्वामीनाथ अय्यर की इन अमूल्य सेवाओं के फल-स्वरूप तमिळ-भाषियों को न केवल अपनी भाषा की प्राचीनता एवं साहित्यिक समृद्धि का सही बोध हुआ, बल्कि तमिळ-प्रदेश के राजनीतिक एवं सामाजिक इतिहास की झाँकियाँ भी देखने को मिलीं।

कांग्रेस महासभा की स्थापना के साथ-साथ राष्ट्रीयता की भावना की जो लहर चली, उससे भारत-भर की जनता का आत्माभिमान फिर एक बार जागृत हो उठा। देश-भक्ति के साथ-साथ भाषा-प्रेम भी जनता में बढ़ने लगा। राष्ट्रीयता का सन्देश जनता तक पहुँचाने के लिए नेताओं को जनता की भाषा में बोलना और लिखना पड़ा। समाचार-पत्रों के रूप में साहित्य का एक नया अंग इसी समय विकसित होने लगा। अंग्रेज़ीदाँ लोग भी जनता की भाषा में लिखने के लिए विवश होने लगे। इन देश-व्यापी प्रवृत्तियों का तमिळ पर भी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

ऐसे ही समय में, *महाकवि सुब्रह्मण्य भारती* के रूप में एक महा शक्ति

का उदय हुआ। अपने ३९ वर्ष के जीवन-काल में भारती ने तमिळ-साहित्य एवं समाज में एक ऐसी क्रान्ति मचा दी जिससे दोनों का काया-पलट-सा हो गया। भारती हर प्रकार के बन्धन के विरोधी थे। उन्होंने पण्डिताऊ शैली के बन्धन से भाषा को उन्मुक्त किया और नये-नये छन्दों में, जन-प्रिय भाषा में, नये-नये भावों एवं कल्पनाओं से भरी गेय कविताएँ रचीं। एक ओर उन्होंने तमिळ-जनता के भाषा-प्रेम को जाग्रत किया और दूसरी ओर लोगों को संकुचित भावनाओं से ऊपर उठकर विशाल राष्ट्रीयता एवं मानवता का दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरित किया। तमिळ-भक्ति उनकी दृष्टि में राष्ट्रीयता की प्रथम सीढ़ी थी, तो राष्ट्रीयता विश्व-मानवता की पहली मंजिल।

अंग्रेजों द्वारा भारतीयों को सहज क्लर्क बनाने के इरादे से जो शिक्षा-प्रणाली निर्धारित की गई थी, उसके घातक परिणामों को भारती ने अपनी आँखों से देखा। आंग्ल-शिक्षा के अपने अनुभव का वर्णन करते हुए वे कहते हैं :

"हज़ारों रुपये पिता के खर्च हुए। हज़ारों बुराइयाँ मुझमें आ गईं। तिल-भर भी अच्छाई नहीं पाई मैंने..."

इन कालिजों के शिक्षित भारतीय—

"अनभिज्ञ हैं देश के गरिमामय अतीत से, वर्तमान पतन से और भावी उत्थान से।"

अंग्रेजी की पुस्तकें रटकर अपने को विशेषज्ञ मानने वाले लोग—

"गणित का अध्ययन करते हैं बारह वर्ष, पर गगन के एक तारे की सही स्थिति की खोज नहीं कर पाते। रट लगाते हैं वाणिज्य एवं अर्थ-शास्त्र की, पर अपने देश की आर्थिक गिरावट से एकदम बे-खबर!...."

ऐसे 'काले साहबों' को दासता की तन्द्रा से जाग्रत करना मृदुल शब्दों या कोमल-कान्त-पदावली से सम्भव नहीं हो सकता था। अतएव भारती की सुधारात्मक कविताओं में आग बरसती है और बरछियाँ चलती हैं।

"अन्धे कभी पा सकते हैं अपना राज, ऐहिक सुख और गौरव ? नपुंसक कर सकते हैं विषय-भोग कहीं ?"

भारती जिस समय हुए, तब अंग्रेजी राज के विषैले प्रभाव के कारण साधारण जनता में एक ऐसी हताशा, ऐसी अकर्मण्यता छाई हुई थी जिसे दूर करना दुःसाध्य-सा प्रतीत हो रहा था।

"सहा नहीं जाता मुझसे, जब इन गिरे हुए मानवों के बारे में सोचता हूँ। भय, भय, भय सब किसी से। कोई वस्तु नहीं दुनिया में जिससे ये डरते न हों। कहते हैं, भूत है, प्रेत है—उस पेड़ पर, इस तालाब में।..."

"अकाल, अकाल का हाहाकार। व्यथित हैं लोग, प्राणान्तक पीड़ा से। खाने को दाना तक नहीं और—सबसे बुरी बात—उनके कारणों का भी ज्ञान नहीं।...."

एक ओर भय, भूख, रोग और अज्ञान। दूसरी ओर झूठे दम्भ का ढकोसला। ऊँच-नीच, जाति-पाँति के हजारों विभेद। "शास्त्रों के नाम से कूड़े का ढेर।" शारीरिक परिश्रम को हेय समझने की घृणित मनोवृत्ति। इन सब के विरुद्ध भारती ने कविता के खड्ग चलाये। इस संघर्ष के कारण उन्हें घोर यातनाएँ सहनी पड़ीं। भूखों तड़पना पड़ा। हजारों कष्ट झेलने पड़े। पर उन्होंने इन बातों की तनिक भी परवाह न की। उनके विचार सुलझे हुए थे, उद्गार हार्दिक थे। स्वार्थ उन्हें छू तक न गया था। अतः उनकी वाणी में वही ओज, स्पष्टवादिता और तीखापन पाया जाता है जो कबीर-जैसे सन्तों की वाणी में।

भारती ने जनता की बुराइयों की निन्दा करके ही सन्तोष नहीं कर लिया, बल्कि आदर्श समाज का चित्र भी उसके सामने प्रस्तुत किया। स्वतन्त्र भारत की कल्पना करके उन्होंने कई सुन्दर गीत गाये हैं। एक गीत में वे कहते हैं :

"नाचें, गाएँ, प्रमुदित मन से—
आई सुखद स्वतन्त्रता आज।

गाएँ यश खेती का, श्रम का।
करें भर्त्सना उनकी जो पड़े हैं
बेकार, खाते-पीते, मौज मनाते॥"

'भारत-समुदायम्' शीर्षक गीत में स्वतन्त्र भारत के राजनीतिक एवं आर्थिक आदर्श का कैसा सुन्दर चित्रण किया है :

"जय हो भारत-समुदाय की,
तीस करोड़ जनों का संघ,
सबका इस पर सम अधिकार।
अनुपम है भारत-समुदाय,
नवल चिन्ह है, विश्व-पट पर॥
एक तोल के, एक मोल के,
हम सब भारत के वासी।
एक वर्ण के, एक वंश के,
हम सब भारत के शासक—हाँ
हम सब भारत के शासक।....
एक का कौर दूसरा छीने—
यह नहीं होगा अब।
एक की पीड़ा दूसरे देखे—
यह नहीं होगा अब—हममें
यह नहीं होगा अब।"

भारती समानता के पुजारी थे। सबको अधिकार और विकास के अवसर समान रूप से मिलें, यह उनका सिद्धान्त था। अतः स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार दिलाने के लिए भी वह सदैव संघर्ष करते रहे।

भारती ने भारत की राजनीतिक एवं आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए जीवन-भर संघर्ष किया। पर उनका कवि-हृदय एक ऐसे विश्व की कल्पना कर रहा था, जहाँ राष्ट्र, जाति या रंग का कोई भेद न हो, सभी मानव समान रूप से स्वच्छन्द विचरण कर सकें। एक गीत में उन्होंने इस भाव को

कवित्वमयी शैली में इस प्रकार व्यक्त किया है :

"कामना है मेरी, माँ, ऐसी स्वतन्त्रता की !
...जहाँ से भी बहे स्वर-लहरी, विश्व-भर में,
संगीतमय शब्दों की—गीतों की,
हम अपनाएँ उसे, विभोर हो जाएँ उसमें।
आएँ देवता हमारे पास, बोलें हमारी जय।
वर लें हमारी कन्याएँ देव-कुमारों को
और देव-कन्याएँ वरें हमारे कुमारों को।
उस सुखातिरेक में नाचें हम हर्षोन्मत्त हो।..."

भारती की विश्वानुभूति केवल शाब्दिक नहीं, हार्दिक थी। वह समस्त मानव-जाति को एक समझते थे, अतः संसार की कोई भी उल्लेखनीय घटना उन पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहती थी। जब प्रथम विश्व-युद्ध के समय शक्तिशाली जर्मन-सेनाओं ने कमजोर बेलजियम पर आक्रमण किया और बेलजियम असाधारण साहस के साथ उसका प्रतिरोध करके अन्त में हार गया, तो भारती को उस पराजय में भी बेलजियम की विजय दिखाई दी। वे गा उठे :

गिरे तुम, पर उन्नत कर दी धर्म की ध्वजा !
...उस व्याध-कन्या की भाँति,
जो सूप लेकर बाघ का मुकाबला करे,
डट गए तुम शक्तिमान शत्रु के सामने।
बलहीन होने पर भी कार्य से श्रेष्ठ हो गए
तुम। जय हो, बेलजियम, तुम्हारी !"

जब रूस में जारशाही का अन्त हुआ, तो भारती ने उसमें नवयुग का उदय देखा :

"पड़ी कृपा-दृष्टि रूस पर, महा काली परा शक्ति की। उठी युग-क्रान्ति प्रचण्ड वेग से। गिरे सब कुटिल शोषक हाहाकार करते हुए।..."

भारती मूलतः अध्यात्मवादी कवि थे। समस्त प्रकृति को उन्होंने महा शक्ति के रूप में देखा। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की उनकी चाह, आध्यात्मिक विकास के एक साधन के ही रूप में थी। उनकी विश्व-दृष्टि का प्रेरणा-स्रोत गीता का यह उपदेश था कि **"सभी जीवों में मैं ही विद्यमान हूँ।"** उनकी आध्यात्मिक अनुभूतिमयी दृष्टि में जड़-चेतन सबमें ईश्वरीय तत्त्व ही दिखाई देता था। **"अद्वैत स्थिति का यह बोध हो जाय तो मरण कहाँ?"**

"कौए और चिरैया हमारी जाति की।
विशाल सागर और उत्तुङ्ग पर्वत हमारे कुल के।
जहाँ भी देखें हम-ही-हम हैं।
देखते-देखते उमड़ता हर्ष॥"

भारती के **'शक्ति-गीत'** अत्यन्त ओजस्वी और गम्भीर अर्थ-भरे हैं। इन गीतों को गाते या सुनते समय हृदय उत्साह एवं उमंग से भर जाता है। जीवन-भर कष्ट झेलने पर भी, कभी-कभी दाने-दाने तक को मुहताज होने पर भी, भारती ने अपने गीतों द्वारा लोगों में नई आशा, नई कर्म-शीलता और नये विश्वास का संचार किया :

"भय न करो, निश्चय जय होगी।
होगी मुक्ति इसी जन्म में, स्थिरता होगी।
भुजाएँ हैं दो, पर्वत समान।
शक्ति के चरण हैं उन पर स्वर्णिम ...."

'पांजालि शपदम्' (पांचाली की शपथ) का खण्ड-काव्य भारती की अमर रचना है। महाभारत के एक अंश के आधार पर रचित इस काव्य में भारती ने आरम्भ से अन्त तक सरल लोक-छन्दों का प्रयोग किया है। काव्य के प्रत्येक पात्र के चरित्र का ऐसा सजीव चित्रण किया गया है कि पढ़ते ही बनता है। इसे काव्य-रूपक भी कहा जा सकता है, क्योंकि द्रौपदी के रूप में भारती ने देश की स्थिति का प्रतीक-चित्र-सा खींचा है और संकेत से यह भी बताया है कि जिस प्रकार पांचाली की शपथ पूरी हुई,

उसी प्रकार भारत के भी शत्रु—दासता, अन्ध-विश्वास, विभेदकारी तत्त्व इत्यादि—अन्त में मारे जायँगे और फिर एक बार उसके अच्छे दिन आयँगे!

इस काव्य के कुछ प्रसंग इसलिए उल्लेखनीय हैं कि उनमें भारती की निर्भीक मौलिकता का परिचय मिलता है।

युधिष्ठिर जब अपने राज्य को दाँव में रखकर हारा, तो कवि कहते हैं:

"जैसे कोई पुजारी उपासना-मूर्ति को बेच डाले; जैसे कोई चौकीदार मकान को दाँव में रखकर हार जाय; वैसे ही, हजारों नीति-शास्त्रों का ज्ञाता युधिष्ठिर देश की बाज़ी लगाकर हारा—छिः छिः! नीचों का काम किया!"

जब दुःशासन द्रौपदी के केश पकड़कर खींचकर ले जाने लगा, तो रास्ते-भर में पुरजनों की भीड़ लग गई और हाहाकार मच गया। कवि कहते हैं:

"पुरवासियों की क्षुद्रता की क्या कहें? वीरताहीन श्वानगण! हिंस्र पशु-जैसे राजकुमार को पाँव-तले कुचलकर, स्वर्ण-लता-सी द्रौपदी को अन्तःपुर में पहुँचाने के बजाय, खड़े रहे लम्बे पेड़ों की तरह और विलाप करने लगे। पुंसत्व-हीन रुदन भी किसी का सहायक बन सकता है कहीं?"

भारती प्रकृति-प्रेमी थे। सूर्योदय, सूर्यास्त, वर्षा, वसन्त, आँधी, मलय पवन, कोयल, कौआ, चिड़िया, चील, नदी, समुद्र आदि विभिन्न विषयों पर उनकी कविताएँ विश्व-काव्य-कानन के अमर सुमन हैं। समुद्र में सूर्योदय का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं:

"सागर पर किरणें फैलाकर आर्य, तुम
बढ़ रहे हो गगन-वीथि पर, वेग से।
तुम्हारी स्वर्गिक, सुखकर छवि को देखकर
पंछी गाते मोद-भरे स्वर।
विशाल सागर भी, अपने
कण-कण के अनन्त नेत्रों से

अंकित कर तुम्हारा ज्योतिमय रूप
अपने हृदयान्तर में, वेद-सम गा रहा तुम्हारा यश।...”

'कान्हा के गीत' में भारती ने प्राचीन तमिळ-काव्य-शैली को नया रूप दिया है। श्रीकृष्ण को उन्होंने नायक, नायिका, सखा, पिता, शिशु, भृत्य, स्वामी, शिष्य, गुरु आदि विभिन्न रूपों में वर्णित किया है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि भारती ने आधुनिक विज्ञान एवं अपनी मौलिक आध्यात्मिक विचार-धारा का इसमें अत्यन्त मार्मिक ढंग से समावेश किया है। नन्द-नन्दन गोपिका-रमण कृष्ण से गीताचार्य कृष्ण ने भारती को अधिक प्रभावित किया प्रतीत होता है।

'कोयल का गीत' एक मौलिक स्वप्न-काव्य है। एक अतिशय स्वप्न के रूप में भारती ने इसमें एक सुन्दर प्रेम-कहानी का वर्णन किया है। सरस हास्य-रस एवं शृङ्गार-रस से ओत-प्रोत यह काव्य बहुत ही रोचक है।

'भारती छियासठ' में भारती की आध्यात्मिक विचार-धारा का प्रतिपादन है। 'मुरशु' (नगाड़ा) शीर्षक दीर्घ कविता में भारती ने आदर्श विश्व-समुदाय की व्यवस्था का चित्रण किया है और विश्व-प्रेम का प्रचार भी।

गांधी जी के भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में प्रसिद्धि पाने से पहले ही भारती का स्वर्गवास हो गया। फिर भी, स्वल्प-परिचय में ही भारती ने गांधी जी और उनके सत्याग्रह-मार्ग की महत्ता को पहचान लिया और यह घोषणा की :

“गांधी के पथ पर चलकर ही
होगा स्वतन्त्र भारत देश।”

गांधी जी के अहिंसा-सिद्धान्त में भारती ने मानव के भावी उत्थान की आशा-किरणों के दर्शन किये और हर्ष से झूमते हुए वे गा उठे :

“जय बोलो और शंख बजाओ !
हो गई रक्षा संसार की,
सुसंस्कृत सज्जनों के हाथों।
मिट गई खोखली नीति उन

मूर्ख शासकों की, जो रक्त-पिपासु
सेना के बल पर दूसरों को
दास बनाये रखना ही विवेकशील
शासन-नीति समझते थे। अब तो
सिखा रहा है नई प्रणाली भारत जग को
गांधी के नेतृत्व में। उठ गया अब
जंगखोरों का ज़माना शीघ्र ही धर्म-निरत-विद्वान्
विश्व-नेतृत्व सँभालेंगे।"

तमिळ में गद्य-गीत लिखने की प्रथा भारती ने ही सबसे पहले चलाई थी। 'वेद-रिषिगळिन् कविदै'—वैदिक ऋषियों की कविता—शीर्षक उनकी गद्य-कवितावली, वैदिक छन्दों के आधार पर रचित अत्यन्त सुन्दर कृति है। 'ज्ञानरथम्' में उन्होंने भारत की तत्कालीन सामाजिक स्थिति और आदर्श समाज में तारतम्य दिखलाया है। गन्धर्व-लोक के वर्णन में उन्होंने स्वच्छन्द प्रेम का समर्थन किया है।

भारती न केवल कवि थे, बल्कि प्रभावशाली गद्य-लेखक एवं पत्रकार भी। दैनिक 'स्वदेशमित्रन्' के सहकारी सम्पादक और दैनिक 'इण्डिया' के सम्पादक के रूप में उन्होंने विभिन्न विषयों पर जो सैकड़ों लेख लिखे, वे आदर्श गद्य-शैली की ही नहीं, बल्कि रचनात्मक मौलिक विचार-धारा की दृष्टि से भी संग्रहणीय महत्त्व के हैं।

भारती ने 'चन्द्रिकै' शीर्षक एक उपन्यास भी लिखना आरम्भ किया था, पर उसको पूरा करने से पहले ही ३६ वर्ष की अल्प वय में उनका देहान्त हो गया।

भारती की महत्ता इसमें है कि उन्होंने न केवल भाषा को एक नई शक्ति, नया रूप एवं नया सौष्ठव प्रदान किया, बल्कि लोगों की चिन्तन-शैली में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया। भारत के अतीत गौरव पर उन्हें गर्व था, पर अतीत की बुराइयों का खण्डन करने से भी वह नहीं चूकते थे। वह अध्यात्मवादी थे, पर जीवन के प्रति नैराश्य फैलाने वाली

तथाकथित 'दार्शनिकता' से उन्हें घृणा थी। अपितु वह तो कहते हैं :

"यह पृथ्वी मधुर है। इसकी वस्तुएँ सरस हैं। आकाश स्निग्ध, सागर सुखद, वायु मधु-भरी।..."

भारती के मित्र *श्री व० वे० सुब्रह्मण्य अय्यर* का भी इसी प्रसंग में उल्लेख करना उचित होगा। इन बहुभाषाविद् कला-प्रेमी को स्वातन्त्र्य-संग्राम ने अपनी ओर खींच लिया और उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश समय अंग्रेजी राज के विरुद्ध 'आतंकवादी' कार्य करने में विताया। बाद में गांधी जी के प्रभाव से वह अहिंसक बने और शिक्षा-सुधार के रचनात्मक कार्य में प्रवृत्त हुए। इन्हीं दिनों उन्होंने 'कम्बन्' और 'वाल्मीकि-रामायण' की तुलनात्मक समीक्षा अंग्रेजी में लिखी। सन् १९२७ में उन्होंने 'बाल भारती' के नाम से एक उच्चकोटि का साहित्यिक मासिक पत्र शुरू किया। संस्कृत, अरबी, फ़ारसी, फ्रेञ्च, ग्रीक और अंग्रेजी-जैसी विभिन्न भाषाओं के स्थायी साहित्य का रसास्वादन कराने के साथ-साथ 'बाल भारती' ने विज्ञान पर भी खोजपूर्ण प्रामाणिक लेखों का प्रकाशन आरम्भ किया। इस पत्र में श्री अय्यर ने कम्बन् की रामायण पर जो लेख-माला प्रकाशित की, उसीसे तमिळ में आधुनिक ढंग की समालोचना का लेखन आरम्भ हुआ। बाद के साहित्य-समालोचकों पर श्री अय्यर की शैली का गहरा प्रभाव पड़ा।

'बाल भारती' के आरम्भ होने के दस महीने के अन्दर श्री अय्यर वीर गति को प्राप्त हुए। इस प्रकार एक महान् प्रतिभा, सम्पूर्ण विकास को प्राप्त होने से पहले ही काल-कवलित हो गई।

तमिळ में आधुनिक गल्प-रचना का भी आरम्भ श्री अय्यर ने ही किया। इनमें से कुछ कहानियाँ तभी लिखी गईं जब श्री अय्यर 'आतंक-वादी' थे। अय्यर की सभी कहानियाँ मनोविज्ञान-प्रधान हैं। 'मंगैयर्क-रशियिन् कादल', 'कुळत्तंगरै अरशमरम्' आदि अय्यर की कहानियाँ स्थायी गल्प-साहित्य में स्थान पाने योग्य हैं।

आज के कवि

आज के तमिळ-कवियों में *श्री देशि कविनायकम् पिळ्ळै* सर्वश्रेष्ठ माने

जाते हैं। उनकी लोकप्रियता का अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि वह 'कविमणि' के नाम से अधिक विख्यात हैं।

'कविमणि' अत्यन्त सहृदय व्यक्ति हैं। उनकी भाषा में ऐसा मिठास और मार्दव है, जैसा कि किसी अन्य आधुनिक कवि की भाषा में नहीं। एडविन आर्नल्ड की 'लाइट आफ़ एशिया' तथा उमर खैयाम की 'रूबाइयात' का उन्होंने तमिळ में अत्यन्त सुन्दर पद्यानुवाद किया है। मीरा के गीतों के आधार पर उन्होंने 'प्रेम की जीत' शीर्षक मधुर कविता-वली रची है, जिसमें मीरा का जीवन-चरित वर्णित है।

शिशु-हृदय की कोमल भावनाओं का चित्रण करने में 'कविमणि' सर्वोपरि हैं। उनकी अधिकांश मौलिक कविताएँ या तो बच्चों के लिए रचित हैं या शिशु के उद्गारों का चित्रण हैं। उदाहरणतः 'प्रथम शोक' शीर्षक कविता में एक छोटे बालक के हृदय की व्यथा का अत्यन्त मार्मिक वर्णन है। बालक अपनी माँ से पूछता है :

"माँ, जूही खिली, हरसिंगार की कली विकसित हुई, मल्लिका भी खिलकर सुगन्ध छिटका रही है। उपवन में तोता बोल रहा है और यह भौंरा गुनगुनाता हुआ उसे खोज रहा है। भैया कहाँ है, माँ? उसके बिना अकेले मैं कैसे खेलूँ माँ?"

बालक का छोटा भाई संसार से विदा हो चुका है। पर माँ यह बात कैसे कहे? वह जवाब देती है :

"फूल की तरह खिला था वह,
अब कुम्हला गया है।—नहीं, वह तो
परमात्मा के पास खेल रहा है, बेटा,
खेल रहा है।"

'शेफालिका' शीर्षक उनकी कविता में सरस कल्पना एवं यथार्थ चित्रण का जो सजीव एवं सुखद सम्मिश्रण है, वह देखते ही बनता है :

"मधुमय सुमन-भरे उपवन में
चली सुवास-भरी बयार जब

वर्षा वधू - सी आकर ठहरीं
तब क्या प्रमुदित शेफालिके ?
हरे पत्तों और लाल फलों से
लदा है घना वट का वृक्ष ।
उसके ऊपर जा बैठी हो,
देखूँ कैसे मैं, शेफालिके ?…"

'कविमणि' राजनीति में दखल नहीं देते। पर समाज की स्थिति से वह उदासीन या बेखबर नहीं हैं। उनके कवि-हृदय से यह अन्याय सहा नहीं गया कि मेहनत करे कोई और उसका फल भोगे और ही कोई। 'स्वामित्व किसका ?' शीर्षक गीत में वे कहते हैं :

"मन्त्र रटने से कहीं होती है खेती ?
भूमि के स्वामी तो वही हैं जो श्रम करें।
जंगल में मंगल उन्हींकी तो बदौलत होता है ?"

युद्ध को 'कविमणि' मानव जाति का अभिशाप मानते हैं। साधारण-जन के शब्दों में उन्होंने यह सरल कामना व्यक्त की है कि :

"युद्ध मिटे, खेती बढ़े,
भाव गिरें। सब मानव भाई-भाई
बनकर रहें।"

'भारती दासन्' तमिळ के क्रान्तिकारी कवि कहलाते हैं। वह श्री सुब्रह्मण्य भारती के अनन्य भक्त हैं, इसीलिए उन्होंने 'भारतीदासन्' का नाम अपना लिया है। आरम्भ में वह भारती की भाँति शक्ति-पूजक और आस्तिक थे। पर बाद में उन पर नास्तिकवाद का गहरा प्रभाव पड़ गया। यहाँ तक कि इस समय तमिळ में नास्तिकवाद के वही प्रबलतम समर्थक माने जाते हैं। एक गीत में वे लिखते हैं :

"धर्म-नाव के ओ सवार !
तुम हो बलि-पशु, हो मूर्खता के शिकार।"

कभी-कभी उनकी नास्तिकता विलक्षण रूप धारण करती है और वह

दुर्योधन और रावण की स्तुति गाने लग जाते हैं। रावण की प्रशंसा में उनकी यह कविता अत्यन्त ही ओजपूर्ण है :

"देखता हूँ दक्षिण दिशा को तो अहा !
प्रफुल्लित होता मन, उभरतीं भुजाएँ !
शासक था वहाँ, लंका में, कभी,
तमिळ वीर, दसों दिशाओं में यश-
ज्योति फैलाने वाला…
मेरे तमिळों का पूर्वज, मेरे तमिळों का नेता
रावण ! समस्त विश्व जानता है उसका नाम !"

'भारतीदासन्' युद्ध-विरोधी हैं और विश्व-शान्ति के गायक हैं। विश्व-भर में मानव-समाज एक परिवार की भाँति समानता के आधार पर सुखी रहे, यह उनकी कामना है। वह आर्थिक समानता के—साम्यवाद के—प्रबल समर्थक हैं। इन विचारों के प्रचार के लिए उन्होंने जो गीत रचे हैं, उनमें अंगारे बरसते हैं, कहीं-कहीं आँसू भी। अपने 'तुम्हीं बताओ' शीर्षक गीत में वह कहते हैं :

"चित्रसम सुन्दर उपवनो, बताओ
तुम्हें उगाने, बढ़ाने, सजाने के लिए,
कितने, कितने साथियों ने
रक्त बहाया था तुम्हारी जड़ में ?"

'भारतीदासन्' निर्बाध, स्वच्छन्द प्रेम के समर्थक एवं प्रचारक हैं :

"प्रेम की प्राप्ति जीव का स्वभाव;
बन्धन को मानता प्रेम कहीं ?"

जब दो हृदय प्रेम में एक हो जाते हैं तो वहाँ :

"मरण नहीं, न जीवन है;
न चंचलता पल-भर भी है;
न संघर्ष है न चलन है;
न जी भरता न हटता है।

प्रेमोद्‌गार का लोक है वह।"

'भारतीदासन्' प्रकृति-प्रेमी हैं। उनकी प्रकृति-वर्णन की कविताएं बहुत ही सुन्दर हैं। 'हँसी जूही' शीर्षक कविता उनकी वर्णन-शैली का सुन्दर उदाहरण है :

"सायंकाल। गया मैं उपवन की ओर।
आई ठण्डी बयार। बयार थी सुवास-
पूरित। मुड़ा मैं उस ओर जहाँ से
आई सुगन्ध। उपवन के मध्य पड़ी
थी, मोहक हरित पीताम्बर पहने,
खिल-खिल हँसती हुई, जूही की
लता। प्रफुल्लित हुआ मैं देखकर उसे।"

'कम्बदासन्' तमिळ के मस्त कवि हैं। वह जीवन को मधुमय, रसमय आँखों से देखते हैं :

"दिव्य मधु, द्राक्षा-मधु
भरो सखि प्याली में।
छिटके अरुणिम छवि आँखों में।...
तोड़ लाऊँ मैं गगन का चाँद धरती पर ;
अन्धकार में तारिकासम विस्फुरित हों हृदय के अरमान।
बयार के यान में भरूँ मैं उड़ान,
मधुर गीत गाता हुआ।
पाप और पुण्य की कल्पना
विलीन हो जाय विस्मृति के गर्त में...
भरो सखि, प्याली में
दिव्य मधु, द्राक्षा-मधु !"

समस्त प्रकृति 'कम्बदासन्' को प्रेममय दृष्टिगत होती है। रवि-किरणों में, लहरों के गीत में, कमल के सौन्दर्य में, भ्रमर के गुनगुनाने में उन्हें प्रेम-ही-प्रेम दृष्टिगत होता है। कान्हा की बाँसुरी उन्हें उसी तरह मुग्ध कर देती है,

जैसे गोपिकाओं को।

'कम्बदासन्' प्रगतिशील कवि हैं। पर उनकी श्रमिकों-सम्बन्धी कविताओं में भी 'भारतीदासन्' का-सा तीखापन नहीं होता। मधुमय शब्द, मधुमय छन्द और मधुर कल्पनाएँ इन प्रचारात्मक कविताओं में भी अनूठा माधुर्य भर देती हैं। उदाहरणतः धान कूटने वाली श्रमिक कन्याएँ कहती हैं :

"हाँफती-हाँफती कूटतीं हम स्वर्णिम धान,
जिनसे निकलें मुक्ता-सम चावल।
हाँ, हो गई कुंकुम-सन्ध्या अब,
तनिक ज़ोर से चलाओ मूसल, सखी!..."

फ़सल काटने वाला किसान कहता है :

"रात में विकसित होने वाली तारिकाओं को
रवि काटता है जिस तरह, उसी तरह
मैं भी, धान की स्वर्णिम दन्त-पंक्तियाँ दिखाकर
चाँदनी-सी हँसी छिटकाने वाली फ़सल को
काट रहा हूँ, हत्या है मेरा पेशा!"

'मछुओं के गीत' की कुछ पंक्तियाँ ये हैं :

"हम हैं आदिम श्रमिक इस जग में।
शुक्र है दीप, सागर है शाला,
लहरें हैं साथी, मेघ हैं छप्पर,
जाल है पोथी, मीन हैं शिक्षा-सार!...
दम रोककर तैरना ही योग,
विशाल व्योम उपास्य हमारा।
हम हैं आदिम श्रमिक इस जग में।"

नामक्कल् रामलिंगम् पिळ्ळै गान्धीवादी कवि हैं। हाल में उनको मद्रास का एक 'आस्थान कवि' (राजकीय कवि) बनाया गया। नमक-सत्याग्रह के समय रचित उनका एक गीत बहुत विख्यात हुआ था। उसकी शुरू की पंक्तियाँ हैं :

"आया युद्ध बड़ा भारी,
खड्ग नहीं, ना खूँख्वारी।"

रामलिंगम् पिळ्ळै के गीतों में उपदेश अधिक और कविता कम होती है। वह अत्यन्त सरल, गद्य-सम भाषा लिखते हैं। उदाहरणतः अहिंसावाद पर उनके एक गीत की कुछ पंक्तियाँ ये हैं :

"वीरता हत्या नहीं।
विजय उससे स्थिर नहीं।
धीरता है दृढ़तापूर्ण शान्ति।
यही बताता मेरा सिद्धान्त।"

श्री पिळ्ळै ने 'अवनुम अवळुम' शीर्षक पद्यमय उपन्यास भी लिखा है।

कोत्तमंगलम् श्री सुब्बु ने ग्रामीण किसानों की बोल-चाल की भाषा में कविता लिखने की नई परम्परा चलाई है। उनकी कविताओं की विशेषता यह है कि भाषा के साथ-साथ, कल्पना एवं भाव भी ग्रामीण किसानों के-से होते हैं। फलतः उनकी कविताओं में असाधारण माधुर्य पाया जाता है। 'गान्दि महान कदै' (महात्मा गान्धी की कथा) तथा 'भारति चरितम्' (कवि सुब्रह्मण्य भारती की जीवनी) उनके लोकप्रिय काव्य हैं।

योगी श्री शुद्धानन्द भारती को लेखन-यन्त्र कहना अत्युक्ति नहीं होगा। 'भारत-शक्ति' नामक बृहत्काव्य-ग्रन्थ के अलावा उन्होंने सैकड़ों स्फुट कविताएँ एवं गीत रचे हैं। साहित्य-समालोचना से लेकर उपन्यासों तक विभिन्न विषयों पर उनके सौ से अधिक गद्य-ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके हैं। श्री शुद्धानन्द भारती बहुभाषाविद् होने के साथ-साथ धर्म, दर्शन, इतिहास, *विज्ञान, संगीत, योग आदि विभिन्न विषयों के विद्वान् हैं। तमिळ भाषा पर* उनका पूर्ण अधिकार है। *अत्यन्त सरल एवं ओजपूर्ण शैली में पद्य और* गद्य लिखते हैं। इतना सब-कुछ होने पर भी उनकी काव्य-रचनाओं में कवित्व का अंश बहुत कम पाया जाता है। उनको पढ़कर लेखक के असाधारण पाण्डित्य पर विस्मय अवश्य होता है। पर हृदय शायद ही द्रवित होता है। हाँ, उनके कुछ गीतों में ध्वनि-माधुर्य के साथ-साथ हृदयस्पर्शी

कवित्व भी यत्र-तत्र देखने को मिलता है। उनके ऐसे गीत लोकप्रिय भी हैं।

गद्य-साहित्य

अन्य भाषाओं की भाँति तमिऴ में भी वर्तमान युग मुख्यतया गद्य-युग है। पत्र-पत्रिकाओं, उपन्यास-गल्प आदि सृजनात्मक रचनाओं, आत्मकथा-जैसे जीवन-चरितों, यात्रा आदि पर वर्णन-ग्रन्थों तथा राजनीति, विज्ञान, एवं कलाओं पर ज्ञान-वर्धक ग्रन्थों के रूप में गद्य-साहित्य का निर्माण इतनी प्रचुर मात्रा में हो रहा है कि उसके सामने काव्य-साहित्य नगण्य-सा दीखता है।

तमिऴ में गद्य-ग्रन्थों की रचना बहुत काल से हो रही है, परन्तु अंग्रेजी के सम्पर्क में आने के बाद उसका जिस प्रकार विकास हुआ, वैसा पहले कभी नहीं। तमिऴ-गद्य की विभिन्न शाखाओं के विकास की बहुत हल्की रूप-रेखा ही यहाँ प्रस्तुत की जा सकती है।

पत्र-पत्रिकाएँ—तमिऴ के सर्वप्रथम सुव्यवस्थित दैनिक 'स्वदेशमित्रन्' का प्रकाशन सन् १८८५ में कांग्रेस-महासभा की स्थापना के साथ-साथ हुआ। उससे पहले भी कुछ छोटे-मोटे दैनिक एवं साप्ताहिक पत्र चले थे, पर उनका क्षेत्र अत्यन्त सीमित होता था। किसी समाज या संस्था-विशेष के मुखपत्रों के रूप में तत्सम्बन्धी समाचारों एवं विचारों का प्रकाशन करना ही उनका उद्देश्य होता था। प्रान्तीय समाचारों के साथ-साथ राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समाचारों का संकलन, सम्पादन तथा उन पर नियमित परिपाटी के अनुसार सम्पादकीय लेख प्रकाशित करने वाला सर्वप्रथम तमिऴ-दैनिक 'स्वदेशमित्रन्' ही था। इस पत्र के सुदक्ष संस्थापक एवं संचालक श्री जी० सुब्रह्मण्य अय्यर कांग्रेस के संस्थापकों में से थे। 'स्वदेशमित्रन्' को यह सुयश प्राप्त है कि महाकवि सुब्रह्मण्य भारती-जैसे साहित्य-महारथी तथा स्व० ए० रंगस्वामी अय्यंगार-जैसे प्रतिभावान पत्रकार उसके सम्पादक-मण्डल में रह चुके हैं।

जब 'स्वदेशमित्रन्' स्थापित हुआ था, तब आधुनिक पाश्चात्य शासन-प्रणाली, राजनीति, अर्थ-शास्त्र, विज्ञान एवं अन्य विषयों के लिए उपयुक्त

तमिळ शब्द गढना दुःसाध्य कार्य था। तमिळ के लिए यह नया ही अनुभव था और नई चुनौती भी। इस चुनौती को 'स्वदेशमित्रन्' ने स्वीकार किया। इस समय तमिळ पत्र-पत्रिकाओं में जो सैकड़ों पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त होते हैं, उनमें से अधिकांश 'स्वदेशमित्रन्' की टकसाल के सिक्के हैं। यह पत्र आज भी चल रहा है और खूब चल रहा है। वयोवृद्ध एवं अनुभव-वृद्ध पत्रकार श्री सी० आर० श्रीनिवासन् के सम्पादकत्व में अब 'स्वदेशमित्रन्' तमिळ-लिपि में सुधार का परीक्षण कर रहा है और इस प्रकार भाषा की बहुत बड़ी सेवा कर रहा है।

'स्वदेशमित्रन्' के बाद अनेक दैनिक, मासिक एवं साप्ताहिक पत्र शुरू हो होकर बन्द हुए। इनमें श्री सुब्रह्मण्य भारती द्वारा सम्पादित 'इन्डिया' श्री पं० वरदराजुलु नायुडु का दैनिक 'तमिळनाडु', श्री व० वे० सुब्रह्मण्य अय्यर का मासिक पत्र 'बाल भारती', सहोदरि बालम्माळ् का साप्ताहिक मासिक 'चिन्तामणि' तथा श्री वि० कल्याण-सुन्दर मुदलियार द्वारा सम्पादित 'नवशक्ति' आदि उल्लेखनीय हैं। स्वातन्त्र्य-संग्राम को सफल बनाने तथा जनता में नई जागृति फैलाने में इन पत्रों का बड़ा हाथ रहा है।

इस प्रसंग में पाक्षिक 'मणिक्कोडि' का भी उल्लेख करना आवश्यक है। यद्यपि यह पत्र दो एक वर्ष चलने के बाद बन्द हो गया, तो भी नवयुग के अनेक प्रतिभाशाली युवा लेखकों को प्रकाश में लाने में इस पत्र ने उल्लेखनीय सेवा की। उस समय के कुछ प्रख्यात पत्रकार एवं कहानीकार तब इस पत्र के सम्पादक-मण्डल में थे। इस पत्र में प्रकाशित कई कहानियाँ तमिळ-भाषा के गल्प-साहित्य में स्थायी स्थान पा चुकी हैं।

'स्वदेशमित्रन्' के अतिरिक्त इस समय तमिळनाडु एवं बाहर के तमिळ-भाषी प्रदेशों में दर्जनों दैनिक पत्र चल रहे हैं। इनमें मद्रास के 'दिनमणि', 'भारत देवी' और 'दिनत्तन्दि', श्रीलंका से प्रकाशित 'वीर केसरी' तथा मलाया से निकलने वाले 'तमिळ मुरशु' और 'तमिळ नेशन' आदि पत्र उल्लेखनीय हैं।

'कलैमगळ' तमिळ का सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक मासिक है। इसके संस्थापक

स्व० श्री नारायणस्वामी अय्यर तमिळ-भाषा के अनन्य भक्त थे। आरम्भ में महामहोपाध्याय स्वामीनाथ अय्यर-जैसे प्रख्यात साहित्य-महारथी इसके सम्पादक-मण्डल में थे। इस समय उनके सुयोग्य शिष्य श्री कि० वा० जगन्नाथन् इसका सम्पादन कर रहे हैं। अब तो यह पत्र एक प्रतिष्ठित साहित्यिक संस्था का रूप धारण कर चुका है। गत कुछ वर्षों से प्रतिवर्ष इस पत्र के तत्त्वावधान में एक उपन्यास-प्रतियोगिता होती है, जिसमें सर्व-श्रेष्ठ समझे जाने वाले उपन्यास पर एक हजार रुपया पुरस्कार के रूप में दिया जाता है। इस पत्र में प्रकाशित होने वाली अधिकांश रचनाएँ संग्रहणीय महत्त्व की होती हैं। गल्प-साहित्य में नये-नये प्रयोगों का सूत्र-पात करने के द्वारा भी 'कलैमगळ' साहित्य की बड़ी सेवा कर रहा है।

इसी कार्यालय से 'मंजरि' नाम का एक मासिक 'डाइजेस्ट' भी प्रकाशित हो रहा है। तमिळ के अन्य अनेकों मासिक पत्रों में 'कुमुदम्' भी उल्लेख-नीय है।

'आनन्द विकटन्' और 'कल्कि' तमिळ-भाषा के सर्वाधिक लोकप्रिय साप्ताहिक पत्र हैं। 'आनन्द विकटन्' १६२५ में श्री एस० एस० वासन् द्वारा मासिक के रूप में शुरू किया गया। सुरुचिपूर्ण हास्य-लेख इसके प्रधान अंग होते थे। १६२८ में तमिळ के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक और पत्रकार श्री रा० कृष्णमूर्ति 'कल्कि' इसके सम्पादक बने और तब से वह उत्तरोत्तर प्रगति करता हुआ क्रमशः पाक्षिक एवं साप्ताहिक बना। आज के अनेक प्रतिष्ठित लेखकों को प्रोत्साहन देकर आगे बढ़ाने का श्रेय इस पत्र को है। मनोरंजन-प्रधान होने पर भी 'आनन्द विकटन्' ने कई दिशाओं में साहित्य की अमूल्य सेवा की है। प्रख्यात साहित्य-समालोचक एवं काव्य-मर्मज्ञ श्री पी० श्री० आचार्य के लेख इधर कई वर्षों से इस पत्र में नियमित रूप से छप रहे हैं। जन-कवि कोत्तमंगलम् सुब्बु की अधिकांश कविताएँ सर्वप्रथम इसी पत्र में छपीं। महामहोपाध्याय स्वामीनाथ अय्यर की आत्म-कथा प्रकाशित करके 'आनन्द विकटन्' ने तमिळ-भाषा की अमूल्य सेवा की है। इस समय तमिळ के सुप्रसिद्ध हास्य-लेखक एवं उपन्यासकार श्री महादेवन

'देवन्' इसका सम्पादन कर रहे हैं।

१६४० मे श्री रा० कृष्णमूर्ति 'आनन्द विकटन्' से अलग हुए और अपने ही उपनाम से 'कल्कि' नामक साप्ताहिक पत्र आरम्भ किया। श्री राजाजी, श्री टी० के० चिदम्बरनाथ मुदलियार-जैसे महारथियो की कहानियाँ और लेख इसमे समय-समय पर छप रहे है। 'कल्कि' के अधिकाश उपन्यास पहले इसी पत्र मे धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए।

'साप्ताहिक स्वदेशमित्रन्' तथा 'दिन मणि कदिर' आदि भी उल्लेखनीय साप्ताहिक है।

आजकल बच्चो के लिए कई मासिक एवं पाक्षिक पत्र चल रहे है। इनमे सबसे अधिक लोकप्रिय एवं उपयोगी मासिक है 'कण्णन्'। 'कलैमगळ' के स्वनामधन्य सम्पादक श्री कि० वा० जगन्नाथन् ही इसके भी सम्पादक है।

बच्चो के लिए चलने वाले पत्रो मे 'चन्द्र मामा' का विशेष उल्लेख इसलिए आवश्यक है कि उसके संचालक एवं सम्पादक एक सराहनीय परीक्षण कर रहे है। यह पत्र 'चन्दा मामा' या 'चन्द्र मामा' के नाम से तमिल, हिन्दी, तैलुगु तथा मराठी आदि विभिन्न भाषाओ मे प्रकाशित होता है। विषय एक भाषाएँ भिन्न-भिन्न। भारत मे इस प्रकार का कदाचित् यह पहला ही प्रयोग है।

उपन्यास—तमिळ का प्रथम उपन्यास 'प्रताप मुदलियार-चरित्रम्' लगभग ८० वर्ष पूर्व *श्री वेदनायकम् पिळ्ळै* द्वारा लिखा गया। श्री पिळ्ळै अंग्रेजी-शिक्षित थे और जिला-मुन्सिफ होने के नाते विभिन्न प्रकार के लोगो का परिचय प्राप्त करने तथा मानव-चरित्र के विभिन्न पहलुओ का अध्ययन करने का उन्हे पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ था। विख्यात अंग्रेजी उपन्यासकार चार्ल्स डिकन्स की शैली का उन पर गहरा प्रभाव था। उनके प्रथम उपन्यास मे तमिळ भाषी प्रदेश के रईस घरानो की खूबियो-खामियो का अत्यन्त हृदयग्राही व्यंग-चित्र पाया जाता है। श्री पिळ्ळै बोल-चाल की भाषा में लिखते थे। उनका हास्य अत्यन्त सुरुचिपूर्ण होता है।

इसके कुछ समय बाद *श्री राजम् अय्यर* के रूप मे एक प्रतिभाशाली

उपन्यासकार प्रकाश में आये। 'प्रबुद्ध भारत' के सम्पादक, स्वामी विवेकानन्द के युवा शिष्य तथा स्वानुभूतिशील दार्शनिक लेखक के रूप में श्री राजम अय्यर काफ़ी प्रसिद्धि पा चुके थे। उनका एक-मात्र तमिळ-उपन्यास 'कमलाम्बाळ-चरित्रम्' सर्वप्रथम 'विवेक चिन्तामणि' नामक पत्र में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था। ग्रामीण ब्राह्मण-समाज की उस समय की स्थिति का अत्यन्त रोचक एवं वास्तविक चित्र इस उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है। यह उपन्यास इतना लोकप्रिय हुआ कि पुस्तकाकार छपने पर इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए। श्री अय्यर अत्यन्त प्रवाहमय शैली में लिखते थे। चरित्र-चित्रण की भी उनकी क्षमता आश्चर्यजनक थी। यह तमिळ-भाषा का दुर्भाग्य है कि २८ वर्ष की अल्प वय में ही इस सहृदय कलाकार एवं दार्शनिक का देहान्त हो गया।

राजम् अय्यर के समकालीन लेखक *श्री अ० माधवय्या* का भी नाम तमिळ के प्रारम्भिक उपन्यासकारों में श्रद्धा के साथ लिया जा सकता है। देहाती एवं नागरिक दोनों प्रकार के जीवन का ओजस्वी चित्रण करने में वह सिद्धहस्त थे। वह राजम् अय्यर से अधिक सुलझी हुई भाषा लिखते थे। 'पद्मावती चरित्रम्', 'विजयमार्तण्डन्' आदि उनके उपन्यास बहुत ही लोकप्रिय हुए।

इस युग के उपन्यासकारों में *स्व पं० नटेश शास्त्री* का भी नाम उल्लेखनीय है। 'जटावल्लभर' नामक मौलिक उपन्यास लिखने के साथ-साथ शास्त्री जी ने कई अंग्रेज़ी उपन्यासों का छायानुवाद भी प्रकाशित किया। तमिळ में अंग्रेज़ी उपन्यासों के अनुवाद की परम्परा सम्भवतः उन्हीं-से शुरू हुई।

इसके बाद कुछ समय तक तमिळ में मौलिक उपन्यासों की रचना अवरुद्ध-सी रही। उनके स्थान पर अंग्रेज़ी और फ्रांसीसी उपन्यासों के अनुवादों की बाढ़-सी आ गई। यद्यपि पं० नटेश शास्त्री इस 'धारा' के 'प्रवर्तक' थे, तो भी इस प्रकार के 'अनुवादक-उपन्यासकारों' के प्रतिनिधि कहलाने का श्रेय स्व० *श्री आरणी कुप्पुस्वामी मुदलियार* को है।

श्री मुदलियार अथक लेखक थे। अलैग्जैण्डर ड्यूमा से लेकर अंग्रेज़ी के राह-चलते लेखकों तक उन्होंने किसी के उपन्यास को अछूता नहीं छोड़ा। वह छायानुवाद ही किया करते थे, सीधा नहीं। अर्थात् मूल उपन्यास के पात्रों एवं स्थानों के नाम वह बदल देते थे और उनको तमिळ जामा पहना देते थे। पर घटना-क्रम एवं रीति-रिवाज में कोई परिवर्तन नहीं करते थे। उनकी शैली भी अत्यन्त विलक्षण होती थी। फलतः पाठक को तमिळ-भाषा की नाव में सवार होकर अज्ञात देशों की सैर करने का अनूठा आनन्द प्राप्त हो जाता था। शायद यही कारण था कि श्री मुदलियार के उपन्यास अपने समय में बहुत ही लोकप्रिय हुए।

इस स्कूल के लेखकों में *वडुवूर के दुरैसामी अय्यंगार* तथा *जे० आर० रंगराजू* के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

लगभग २५ वर्ष पूर्व *श्री वेंकट रमणि* ने 'मुरुगन्—एक काश्तकार' शीर्षक युग-प्रवर्तक सामाजिक उपन्यास प्रकाशित करके मौलिक उपन्यास-रचना को पुनर्जीवित किया। भारतीय किसानों की समस्याओं पर उपन्यास द्वारा प्रकाश डालने का यह प्रथम प्रयास था। स्वातन्त्र्य संग्राम की पार्श्व-भूमि पर श्री वेंकट रमणि ने 'देशभक्तन् कन्दन्' नाम का दूसरा उपन्यास लिखा। इन दोनों उपन्यासों में लेखक की सुघड़ शैली, गवेषणा-शक्ति एवं गहन विचारशीलता की जो आभा पाई गई, उससे साहित्य-प्रेमियों को यह आशा बँधी कि श्री वेंकट रमणि की लेखनी से उपन्यास-जगत् की और भी श्री-वृद्धि होगी। पर गान्धीवादी वेंकट रमणि ग्राम-सेवा के कार्य में अपनी सारी शक्ति से संलग्न हो गए, जिससे एक प्रतिभा-सम्पन्न उपन्यासकार तमिळ-साहित्य से छिन गया।

श्री वेंकट रमणि ही की भाँति अंग्रेज़ी में ख्याति प्राप्त करने के बाद तमिळ में मौलिक रचना करने वाले दो अन्य उपन्यासकारों का भी यहीं उल्लेख कर देना उचित होगा। वे हैं *श्री 'एस० वी० वी०'* और *श्री आर० के० नारायणन्*।

श्री 'एस० वी० वी०' पुनरुज्जीवनवादी लेखक थे। वे बोल-चाल की

भाषा में, मधुर घरेलू विनोदों से ओत-प्रोत शैली में लिखते थे। मध्यवर्गीय ब्राह्मण-समाज का चित्रण करने में वे अत्यन्त निपुण थे। 'नई रोशनी' की खिल्ली उड़ाने में उन्हें विशेष आनन्द आता था।

श्री आर० के० नारायणन् अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार हैं। 'स्वामी और उसके साथी' नामक उनका उपन्यास तमिळ में अपने ढंग की अकेली रचना है। स्कूल जाने वाले बालकों के जीवन का इसमें सजीव चित्रण किया गया है।

श्री नारायणन् आजकल फिर अंग्रेजी में लिखने लगे हैं और तमिळ से विमुख-से हो गए हैं, जो दुर्भाग्य की बात है।

आजकल तमिळ-उपन्यास में मुख्य रूप से तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं—(१) सुधारवादी; (२) यथार्थवादी एवं (३) ऐतिहासिक। इन में यथार्थवादी उपन्यास अधिक लोकप्रिय हैं।

सुधारवादी उपन्यासकारों में श्री 'कल्कि' अग्रगण्य हैं। उनकी सभी रचनाएँ सोद्देश्य होती हैं। वह कला को साधन मानते हैं, साध्य नहीं। 'कळ्वनिन् कादलि' (चोर की प्रेमिका), 'शोलैमलै इळवरशि' (शोलैमलै की राजकुमारी), तथा 'अलै ओशै' (लहरों की पुकार) आदि उनके उपन्यास उच्चकोटि की रचनाएँ हैं। वह मधुर हास्य-मिश्रित सुन्दर शैली में लिखते हैं।

तमिळ में प्रामाणिक ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की भी परम्परा 'कल्कि' ने ही आरम्भ की। पल्लव-कालीन इतिहास के आधार पर रचित उनके दो उपन्यास शिवकामियिन् शपदम्' (शिवकामी की शपथ) और 'पार्तिबन् कनवु' (पार्थिव का स्वप्न) स्थायी महत्त्व के हैं।

यथार्थवादी उपन्यासों में जीवन के विभिन्न पहलुओं का वास्तविक चित्रण प्रस्तुत किया जाता है, जीवन की व्याख्या अथवा समस्याओं का समाधान करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। इनमें अधिकांश उपन्यास चरित्र-चित्रण-प्रधान होते हैं, अतः इनको मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहना अनुचित नहीं होगा।

ऐसे उपन्यासकारो मे श्री *'देवन्'* का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'देवन्' कुशल कलाकार और प्रतिभा-सम्पन्न लेखक है। उपन्यास-रचना मे कई नये परीक्षण उन्होने साहस पूर्वक किये और सफलता प्राप्त की। **'गोमतियिन् कादलन्'** (गोमती का प्रेमी), **'मैथिली'** आदि उनके शुरू के उपन्यास है। **'राजत्तिन मनोरदम्'** (राजम् का मनोरथ) मे उनकी असाधारण मौलिक सूझ का परिचय मिलता है। **'जस्टिस जगन्नादन्'** मे उन्होने एक नई 'टेकनीक' सफलता से अपनाई है। उनका **'वेदान्तम्'** भी बहुत सुन्दर उपन्यास है। श्री 'देवन्' अभी युवक है। उनसे तमिळ-साहित्य को बडी आशाएँ है।

आज के अन्य उपन्यासकारो मे *सुश्री 'लक्ष्मी', 'गुहप्रिया', सरस्वती अम्माळ* तथा *अनुत्तमा* आदि लेखिकाओ और *पी० एम० कण्णन्, 'जीवा'* एवं *जी० एस० मणि* आदि लेखको के भी नाम उल्लेखनीय है।

गत बीस-पच्चीस वर्षों से अन्य भारतीय भाषाओ—विशेषतः बंगला, हिन्दी, मराठी और गुजराती—के उपन्यासो का अनुवाद भी तमिळ मे हो रहा है। शरच्चन्द्र और प्रेमचन्द के तो प्रायः सभी उपन्यासो का तमिळ मे अनुवाद हो चुका है। ऐसे सफल अनुवादको मे सर्वश्री *'का० श्री० श्री०', त० ना० कुमारस्वामी, गुरुस्वामी* तथा *वीलिनाथन्* आदि उल्लेखनीय है।

कहानी—तमिळ मे आधुनिक ढंग की कहानियो का श्रीगणेश स्व० *श्री व० वे० सुब्रह्मण्य अय्यर* ने किया था। लगभग उसी समय *श्री सुब्रह्मण्य भारती* ने रवि बाबू और टालस्टाय की कहानियो का सुन्दर अनुवाद प्रकाशित किया। *श्री माधवय्या* का 'कुशिकर कुट्टिक्कदैगळ' नामक कहानी-संग्रह भी इसी समय प्रकाशित हुआ। श्री सुब्रह्मण्य भारती ने कुछ मौलिक कहानियाँ भी लिखीं। इन प्रारम्भिक प्रयत्नो मे श्री सुब्रह्मण्य अय्यर की कहानियाँ स्थायी महत्त्व की हैं।

इसके बाद कहानी-साहित्य उत्तरोत्तर प्रगति करता गया और आज सैकडो कहानीकार नई-नई शैलियों मे कहानियाँ लिख रहे है। इनमे मनोविश्लेषणात्मक शैली सर्वाधिक लोकप्रिय है। तमिळ के सर्वश्रेष्ट कहानीकारो मे

'कल्कि', राजाजी, ति० ज० रंगनाथन्, वी० एस० रामय्या, स्व० कु० प० राजगोपालन्, स्व० पुदुमैपित्तन्, स्व० एस० वी० वी०, 'देवन्' तथा कि० वा० जगन्नाथन् आदि मुख्य हैं।

'कालिक' ने सैकड़ों छोटी और लम्बी कहानियाँ लिखी हैं। मधुर हास्य-पूर्ण कहानियाँ लिखने में वह जितने सिद्ध-हस्त हैं, हृदय को द्रवित करने वाली करुण-रस से ओत प्रोत गल्प-रचना करने में भी उतने ही कुशल हैं। 'खत और आँसू', 'भवानी बी० ए० बी० एल०' तथा 'वीणा-भवानी' आदि उनकी अनेक कहानियाँ अतीव सुन्दर गल्प-सुमन हैं।

तमिळ-कहानीकारों में राजाजी का स्थान बहुत ऊँचा है। उनकी कहानियों में एक असाधारण हृदयस्पर्शी तत्त्व पाया जाता है, जैसा कि टालस्टाय की कहानियों में। राजाजी की कलाकारितापूर्ण भाषा-शैली उनकी कहानियों की रोचकता को दस गुना बढ़ा देती है।

ति. ज. रंगनाथन् प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार हैं और पारखी मनोवैज्ञानिक भी। उनकी शैली बहुत ही रोचक और हृदयस्पर्शी है। 'नागरत्नम्'-जैसी उनकी कुछ कहानियाँ विश्व के कथा-साहित्य की अमर रचनाएँ हैं।

वी. एस. रामय्या की कहानी एवं भाषा-शैली एकदम मौलिक है। 'नक्षत्र शिशु' तथा 'पंचम स्थायी'-जैसी उनकी कहानियाँ उनकी प्रतिभा के अमर प्रमाण हैं। इधर कुछ वर्षों से वह साहित्य-जगत् से दूर हट गए हैं, यह खेद की बात है।

स्व० कु. प. राजगोपालन् मनो-विश्लेषणात्मक कहानियाँ लिखने में सिद्धहस्त थे। मानसिक उद्गारों तथा उमंगों का यथातथ्य वर्णन करने में कभी-कभी वह अति कर जाते थे, जिसके फलस्वरूप उनकी कुछ कहानियों में अश्लीलता-सी आ जाती थी। खेद है कि प्रतिभा के पूर्ण रूप से विकसित होने से पूर्व ही उनका देहान्त हो गया, इस कारण साहित्य को उनसे वह नहीं प्राप्त हो सका, जिसकी आशा थी।

स्व० 'पुदुमैप्पित्तन्' की भी यही बात थी। यद्यपि उन्होंने कुछ स्थायी महत्त्व की कहानियाँ लिखी हैं, फिर भी उनकी कला पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त

नहीं हो पाई थी। समाज के कुछ बीभत्स पहलुओं का भी वह नग्न चित्र उपस्थित कर देते थे, जो कहीं-कहीं अरुचिकर हो जाता था।

स्व. 'एस. वी. वी.' मनोरंजन-प्रधान कहानियाँ लिखते थे। दक्षिण के ब्राह्मण समाज के जीवन पर उनके व्यंग-चित्र बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं।

'देवन्' की भी कहानियाँ मनोरंजन-प्रधान ही होती हैं, पर उनकी शैली एस. वी. वी. की शैली से भिन्न है। कुछ लोगों का विचार है कि 'देवन्' की शैली पर-अंग्रेजी का प्रभाव है। पर यह केवल आंशिक सत्य ही है। 'जासूस शाम्बु की कहानियाँ' तथा 'मल्लारि राव की कहानियाँ' आदि उनकी रचनाएँ उच्च कोटि के शिष्ट हास्य की ज्वलन्त प्रमाण हैं। 'चिन्न राजामणि' की कहानियों में 'देवन्' ने बाल-मनोविश्लेषण की अपनी कुशलता तथा रोचक लेखन-शैली का सुन्दर परिचय दिया है।

कि. वा, जगन्नाथन् की कहानियाँ सुनियोजित एवं सुगठित होती हैं। उनकी भाषा अत्यन्त परिमार्जित होती है जिससे उनकी कहानियों का आकर्षण बढ़ जाता है। वह निरुद्देश्य नहीं लिखते। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उनकी कहानियों में कोई-न-कोई 'सीख' अवश्य होती है।

व्यंगपूर्ण 'स्केच' लिखने में स्व. व. रा. सिद्धहस्त थे। *'नाडोडि'*, *'देवन्'*, *'तुमलन्'* आदि इस क्षेत्र के प्रमुख लेखकों में से हैं।

नाटक—तमिळ के प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थ 'तोलकाप्पियम्' में नाटक के लक्षणों का विशद वर्णन है तथा कई प्रकार के नाटकों का उल्लेख मिलता है। फिर भी प्राचीन तमिळ-साहित्य में नाटकों का एकदम अभाव पाया जाता है। 'नल्लतंगाल नाटकम्' तथा 'हरिश्चन्द्रन् नाटकम्'-जैसे कुछ लोक-नाटकों का प्रचलन इधर कई सौ वर्षों से रहा अवश्य है, परन्तु साहित्यिक नाटक रचे नहीं गए। द्वितीय संघ-काल से पूर्व जो कुछ भी नाटक लिखे गए वे लुप्त हो गए।

तमिळनाडु में आधुनिक रंगमंच का आरम्भ मराठी नाटक-मण्डलियों द्वारा किया गया। बाद में *श्री प. सम्बन्द मुदलियार*-जैसे कुछ शिक्षित कला-प्रेमियों ने उसे बहुत सुधारा और विकसित किया। इस उद्देश्य से

श्री मुदलियार और उनके मित्रों ने 'सुगुण विलास सभा' नामक नाटक-मण्डली स्थापित की। इस मण्डली की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए *श्री सम्बन्द मुदलियार* ने नाटक लिखना आरम्भ किया था।

श्री सम्बन्द मुदलियार ने मौलिक एवं अनूदित कुल ८० से अधिक नाटक लिखे। आरम्भ में वह पौराणिक या लोक-कथाओं के आधार पर नाटक लिखते थे या अंग्रेज़ी नाटकों का छायानुवाद करते थे। परन्तु बाद में उन्होंने एक-दो मौलिक सामाजिक नाटक भी लिखे, जिनमें 'ब्राह्मण व शूद्र' नामक नाटक विवाद का विषय बन गया था।

मुदलियार कुशल अभिनेता थे और रंगमंच से सुपरिचित भी। उनके सभी नाटक रंगमंच पर सफलता पूर्वक खेले जा चुके हैं। परन्तु उनका साहित्यिक महत्त्व नगण्य-सा ही है।

संस्कृत, अंग्रेज़ी तथा अन्य भाषाओं के नाटकों का अनुवाद तमिळ में बहुत दिन से होता रहा है। द्विजेन्द्रलाल राय-जैसे बंगला-लेखकों के नाटक भी कुछ वर्ष पूर्व अनूदित हुए।

परन्तु यह मानना पड़ेगा कि आज भी तमिळ में उच्च कोटि के मौलिक नाटकों का अभाव है। इस अभाव के पूरा होने की जो भी कुछ आशा हो सकती थी, वह भी बोल-पटों के प्रसार के उपरान्त समाप्त हो गई।

परन्तुनाटक क एक आधुनिक शाखा—रेडियो-रूपकों और प्रहसनों—में तमिळ ने उल्लेखनीय प्रगति की है। इन रूपकों-प्रहसनों को 'श्रव्य-नाटिका' कहा जा सकता है। इस कला में सर्वश्री *'उमाचन्द्रन्'*, *पूर्णम् विश्वनाथन्*, *गुहन* तथा *वी. ए. कृष्णमूर्त्ति* आदि तरुण लेखकों ने सराहनीय प्रावीण्य प्राप्त किया है। दैनन्दिन जीवन की साधारण घटनाओं में छिपे हुए हास्य को, बोल-चाल की भाषा में, अत्यन्त कलाकारिता के साथ प्रहसनों द्वारा व्यक्त करने में 'उमाचन्द्रन्' और पूर्णम् विश्वनाथन् पूर्णतया दक्ष हैं। 'उमाचन्द्रन्' गम्भीर रेडियो-रूपक भी लिखते हैं। 'गुहन' और वी. ए. कृष्णमूर्ति भी गम्भीर रूपक लिखते हैं। *'सुन्दा'*, *'शुकि'*, तथा 'सोमु' आदि के भी नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं।

जीवन-चरित—तमिळ मे जीवन-चरित लिखने की प्रथा तो बहुत अर्से से थी, पर अंग्रेजी-जैसी पाश्चात्य भाषाओ मे प्रकाशित इस प्रकार की सर्वश्रेष्ठ रचनाओ के समकक्ष की प्रथम जीवनी लिखने का श्रेय स्व. *महामहोपाध्याय स्वामीनाथ अय्यर* को है। अपने गुरु महाविद्वान् मीनाक्षी सुन्दरम् पिळ्ळै का सुविस्तृत जीवन-चरित लिखकर स्वामीनाथ अय्यर ने जहाँ एक शिष्य का कर्तव्य निबाहा, वहाँ तमिळ-साहित्य को भी एक अमूल्य उपहार भेट किया। बाद मे लोगो के बार-बार आग्रह करने पर उन्होने अपनी आत्म-कथा भी लिखी, जिसके पूर्ण होने से पूर्व ही उनका स्वर्गवास हो गया। विद्वानो का मत है कि ये दोनो ग्रन्थ तमिळ मे अपने ढंग की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ है।

स्वामीनाथ अय्यर की सबसे बडी विशेषता यह है कि वह अत्यन्त सरल ढंग से कहानी सुनाते जाते है, कथन मे या घटनाओ मे रोचकता लाने का किसी प्रकार का कृत्रिम प्रयास नही करते। अतः उनकी रचनाओ मे नदी के बहाव का-सा स्वाभाविक एवं मनोहारी प्रवाह पाया जाता है। उनके जीवन-चरितो मे वर्णित पात्र सजीव होकर हमारे सामने आते है और स्थायी रूप से हमारे मन मे अंकित हो जाते है।

प्राचीन तमिळ-कवियो, राजाओ एवं इतिहास-पुरुषो के कितने ही खोजपूर्ण जीवन-चरित गत कुछ वर्षो मे प्रकाशित हुए है और हो रहे है।

'महर्षि रमण' की कई जीवनियाँ प्रकाशित हुई है। इनमे *श्री शुद्धानन्द भारती* द्वारा रचित जीवनी बहुत सुन्दर है। श्री शुद्धानन्द भारती की भाषा-शैली अत्यन्त प्रवाहमय है। उनकी एक-मात्र दुर्बलता यही है कि चरित-नायक के व्यक्तित्व से वह कभी-कभी इतने प्रभावित हो जाते है कि भावावेश मे आकर अतिशयोक्ति एवं अत्युक्ति से भरी बातें कह जाते है।

महाकवि सुब्रह्मण्य भारती के जीवन पर उनके 'शिष्य' स्व० *श्री व० रा०* द्वारा रचित ग्रन्थ एक सुन्दर कला-कृति है। भारती को एक मस्त कवि के रूप मे, आदर्शवादी के रूप मे, सहृदय मानव के रूप मे तथा क्रांतिकारी देश-भक्त के रूप मे श्री व० रा० सजीव शब्द-चित्रो द्वारा पाठक के सामने

खड़ा कर देते हैं। यह कवि की जीवनी नहीं, अपितु ओजस्वी चरित्र-चित्रण है।

व० रा० ने राजाजी, टी० एस० एस० राजन-जैसे अनेक नेताओं के जो 'स्केच' लिखे हैं, वे भी साहित्यिक दृष्टि से उच्चकोटि के हैं।

जीवन-चरित्र के क्षेत्र में *श्री० वा० स्वामीनाथ शर्मा*, *श्री एम० एस० सुब्रह्मण्य अय्यर* आदि की भी सेवाएँ उल्लेखनीय हैं।

संस्मरण लिखने की कला तमिळ में खूब विकसित हुई है। इस कला में प्रवीण लेखकों के नाम तक गिनाना यहाँ असम्भव है।

यात्रा-सम्बन्धी मौलिक ग्रन्थ तमिळ में बहुत कम हैं। यह हर्ष की बात है कि आजकल इस दिशा में अधिक ध्यान दिया जा रहा है।

खोज—ऐतिहासिक एवं साहित्यिक खोज इधर बहुत काल से तमिळ में चल रही है। सर्व श्री *महामहोपाध्याय स्वामीनाथ अय्यर*, *न० मु० वेंकटसामि नाट्टार*, *चि० वै० दामोदरम् पिळ्ळै*, *रा० राघव अय्यंगार*, *का० सुब्रह्मण्य पिळ्ळै*, *सोमसुन्दर भारती*, *पण्डितमणि कादिरेशन चेट्टियार*, *स्वामी वेदाचलम्*, *वैयापुरि पिळ्ळै*, *कि० वा० जगन्नाथन्* तथा *न० शि० कन्दैया पिळ्ळै* आदि कितने ही विद्वानों के नाम इस सम्बन्ध में श्रद्धा से लिये जा सकते हैं। *स्व० श्री पूर्णलिंगम् पिळ्ळै* ने अंग्रेजी में तमिल इतिहास पर कुछ खोजपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। *प्रो० नीलकण्ठ शास्त्री*, *श्री रामचन्द्र दीक्षित* तथा *रेवरेण्ड पार्प्ली*-जैसे विद्वानों ने भी तमिळ-साहित्य एवं इतिहास पर अंग्रेजी में खोजपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं।

इतिहास—यह आश्चर्य की बात है कि तमिळ-साहित्य का सम्पूर्ण एवं सुविस्तृत इतिहास अभी तक लिखा नहीं गया। साहित्य के विभिन्न पहलुओं एवं पर्वों पर अनेक ग्रन्थ अवश्य लिखे गए हैं, पर आदि काल से लेकर आधुनिक काल तक के साहित्य का सर्वाङ्गीण इतिहास आज तक नहीं लिखा गया।

श्री रा० राघवय्यंगार ने इस दिशा में प्रयत्न आरम्भ किया था, पर अभी उनका ग्रन्थ पूरा नहीं हो पाया है।

सम्भवतः इसका कारण यह है कि तमिळ-साहित्य के ढाई हजार वर्ष का विस्तृत इतिहास कई हजार पृष्ठों की बृहदाकार पोथी हो जायगी। ऐसे ग्रन्थ को लिखने में जो परिश्रम और समय लगेगा सो तो लगेगा ही, साथ ही उसके प्रकाशन के लिए विशाल धन-राशि की भी आवश्यकता होगी। सरकार अथवा कोई बड़ी सार्वजनिक संस्था ही इस कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न कराने में समर्थ हो सकेगी।

इसी प्रकार, दक्षिण भारत का प्रामाणिक एवं सुविस्तृत इतिहास लिखने का भी कार्य अभी शेष है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद विद्वानों का ध्यान इस ओर भी जाने लगा है, अतः यह आशा की जा सकती है कि निकट भविष्य में यह कार्य सम्पन्न हो जायगा।

साहित्य-समालोचना—तमिळ में आधुनिक ढंग की साहित्य-समालोचना का सूत्रपात भी स्व० *श्री व० वे० सुब्रह्मण्य अय्यर* ने ही किया। अब यह कला खूब विकसित हुई है और कई महारथी इस क्षेत्र में अमूल्य सेवा कर रहे हैं। इनमें सर्वश्री *पी० श्री० आचार्य, रा० पि० सेतु पिळ्ळै, टी० के० सी०, वैयापुरि पिळ्ळै, वै० मु० गोपालकृष्णमाचार्य, रा० राघव अय्यंगार, सोमसुन्दर भारती* तथा *तो० मु० भास्कर तोण्डैमान* आदि अनेक विद्वान् उल्लेखनीय हैं।

दुर्बोध प्राचीन साहित्य को आधुनिक ढंग से समझाने में *श्री कि० वा० जगन्नाथन्, श्री मीनक्षीसुन्दरम् पिल्ले* आदि अनेक विद्वान् महत्त्वपूर्ण सेवा कर रहे हैं।

लोक-साहित्य—इधर कुछ वर्षों से विद्वानों का ध्यान लोक-साहित्य के संकलन की ओर जाने लगा है। सहृदय काव्य-रसज्ञ *श्री कि० वा० जगन्नाथन्* ने तमिळ-लोक-गीतों का अत्यन्त परिश्रम पूर्वक संकलन करके रोचक विवेचन सहित उन्हें प्रकाशित किया है, जिससे साहित्य को अमूल्य निधि प्राप्त हो गई है। और भी अनेक विद्वान् इस दिशा में प्रयत्नशील हैं।

जन-कवि *श्री कोत्तमंगलम् सुब्बु* की प्रेरणा से, कुछ समय पूर्व, '*आनन्द विकटन्*' ने 'कट्टबोम्मु चरितम्' नामक प्रख्यात लोक-काव्य

टिप्पणियों-सहित प्रकाशित किया। अंग्रेजों के विरुद्ध दक्षिण में अन्तिम सशस्त्र युद्ध लड़ने वाले प्रतापी वीर कट्टबोम्मु नायक्कन और उसके भाई ऊमैत्तुरै की यह वीर-गाथा, गत डेढ़ सौ वर्षों से ग्रामीण जनता द्वारा गाई जाती रही। जनता पर इस गाथा के प्रभाव का इसीसे अनुमान लगाया जा सकता है कि अंग्रेजी राज्य ने इसके गाने पर कठोर प्रतिबन्ध लगा रखा था, फिर भी लोग उसे बराबर गाते और सुनते आए। गाँवों में यह गाथा नाटक के रूप में भी प्रदर्शित की जाती रही। अभी पहली बार यह संशोधित रूप में छपी है।

परन्तु इस क्षेत्र में अभी बहुत-कुछ करना बाकी है। श्रीलंका के तमिल-भाषी क्षेत्रों में प्रचलित लोक-गीतों और लोक-कथाओं का संकलन और प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ।

सूक्ष्म विवेचन-ग्रन्थ—आध्यात्मिक, सामाजिक, वैयक्तिक आदि विभिन्न क्षेत्रों में सूक्ष्म सिद्धान्तों का विवेचन करने वाले ग्रन्थ प्रत्येक साहित्य के आवश्यकीय अंग होते हैं। तमिळ में इस प्रकार के चिन्तनशील निबन्ध एवं सूक्ष्म-सिद्धान्त-विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखने में *स्व० वि० कल्याणसुन्दर मुदलियार* सिद्धहस्त थे। अत्यन्त प्रवाहमय, परिमार्जित एवं ओजस्वी भाषा में उन्होंने विभिन्न विषयों पर चालीस से अधिक पुस्तकें लिखी हैं। **'नारी-गरिमा', 'मानव-जीवन और गान्धी जी'** तथा **'आत्म प्रकाश'** आदि उनके ग्रन्थ बहुत ही चिन्तन-प्रेरक हैं।

श्री मुदलियार हर विषय पर नये ही दृष्टिकोण से विचार करते थे और ऐसे पहलुओं पर प्रकाश डालते थे, जिन पर प्रायः लोगों का ध्यान नहीं जाता। फलतः शुष्क सैद्धान्तिक विषयों पर लिखित उनके चार-चार सौ पृष्ठों के ग्रन्थों में भी पाठक का मन नहीं ऊबता।

विचारशील निबन्ध-लेखकों में *राजाजी* तथा *स्व० व० रा०* आदि के भी नाम उल्लेखनीय हैं।

राजनीतिक एवं आर्थिक प्रश्नों पर सर्वश्री *क० सन्तानम्, ना० शिवरामन्, अविनाशलिंगम् चेट्टियार, ए० जी० वेंकटाचारी* तथा

पं० *रामस्वामी* आदि अनेक विद्वानों ने कई उपयोगी ग्रन्थ लिखे हैं।

विनोद-प्रधान निबन्ध-लेखन की भी कला तमिळ में खूब विकसित हुई है। इस कला में *'कुमुदिनी'* का स्थान बहुत ऊँचा है। *'कल्कि'*, *'तुमिलन्'*, *'नाडोडि'* तथा *'कोनष्टै'* आदि ने भी इस शैली में सैकड़ों रोचक निबन्ध लिखे हैं।

आज की समस्या

आज तमिळ-भाषा के सामने सबसे बड़ी समस्या वही है जो अन्य भारतीय भाषाओं के सामने है। वह है वैज्ञानिक साहित्य-निर्माण की समस्या। तमिळ-भाषी यह अनुभव कर रहे हैं कि आज के युग में विज्ञान साहित्य का एक अनिवार्य अंग बन चुका है। जब तक भाषा में विज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर उच्चकोटि का प्रामाणिक साहित्य प्रचुर मात्रा में निर्मित न हो जाय, तब तक अंग्रेजी की दासता से पूर्णतया मुक्त होना सम्भव नहीं। इस कारण सभी तमिळ-प्रेमियों एवं गम्भीर लेखकों का ध्यान इस समय वैज्ञानिक साहित्य-निर्माण की ओर केन्द्रित है।

वैसे इधर कई वर्षों से इस दिशा में विद्वानों द्वारा व्यक्तिगत प्रयास होता आया है। विभिन्न वैज्ञानिक विषयों पर अलग-अलग विद्वानों द्वारा पाठ्य-ग्रन्थ तैयार किये गए और उनमें से कुछ स्कूलों में लगे भी। पर यह तो केवल पहली सीढ़ी थी।

लगभग दो दशाब्दी पूर्व *राजाजी* ने 'तमिळिल् मुडियुमा' (तमिळ में सम्भव है ?) शीर्षक ग्रन्थ प्रकाशित किया। विज्ञान-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों के लिए तमिळ में पर्यायवाची शब्द ढूँढने का यह प्रथम सुयोजित प्रयास था।

करीब इसी समय *श्री पे० ना० अप्पुस्वामी अय्यर* ने भौतिक विज्ञान पर प्रामाणिक लेख लिखना आरम्भ किया। बाद में राजाजी ने भी इस विषय पर कुछ सुन्दर लेख लिखे। अब इस विषय पर *श्री अप्पुस्वामी*, *श्री आर० के० विश्वनाथन्* तथा *श्री रत्नस्वामी* आदि अनेक विद्वानों के

प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। श्री अप्पुस्वामी ने रसायन-शास्त्र पर भी कई प्रामाणिक लेख प्रकाशित किये हैं।

परन्तु ये तो विज्ञान-सागर की चन्द बूँदें ही हैं। विज्ञान की कुछ विशेषताओं को रोचक शैली में साधारण जनता को समझाने में उपरोक्त ग्रन्थ अवश्य ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं, पर आज तमिळ-भाषा का लक्ष्य इतना सीमित नहीं है।

विचारशील विद्वान् चाहते हैं कि तमिळ में विज्ञान की हर शाखा पर ऐसे ग्रन्थ लिखे जायँ, जिनके अध्ययन से युवकों को वैसी ही प्रेरणा मिल सके जैसी कि जगदीशचन्द्र वसु और सी० वी० रामन को अंग्रेज़ी के वैज्ञानिक ग्रन्थों का अनुसन्धान करने पर मिली थी। अर्थात् प्रत्येक पहलू पर जो ग्रन्थ लिखे जायँ वे अपने-आपमें सम्पूर्ण हों और तत्सम्बन्धी नवीनतम खोजों का उनमें पूर्ण समावेश हो।

विज्ञान-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों में एकरूपता लाने की भी समस्या तमिळ के सामने उपस्थित है।

मुख्यतया इस प्रकार की विभिन्न समस्याओं का समाधान करने के ही उद्देश्य से 'तमिळ-विकास-संघ' नामक संस्था छः वर्ष पूर्व स्थापित की गई थी। इस संस्था के तत्त्वावधान में सरकारी सहायता से एक विशाल विश्व-कोष तैयार किया जा रहा है। यह संस्था, अन्य रचनाओं के साथ-साथ विज्ञान-सम्बन्धी नई मौलिक रचनाओं पर भी प्रतिवर्ष पुरस्कार देती है। मद्रास-सरकार भी इस दिशा में प्रयत्नशील है।

इन सब प्रयत्नों के बावजूद, यह बताना कठिन है कि कितने वर्षों में तमिळ का विज्ञान-सम्बन्धी साहित्य अंग्रेज़ी और फ्रेञ्च-जैसी पाश्चात्य भाषाओं के विज्ञान-साहित्य की समता करने में समर्थ हो सकेगा। हाँ, इस सम्बन्ध में सरकार, लेखकों एवं जनता में जो अभूतपूर्व उत्साह पाया जाता है, उसको देखते हुए यह आशा की जा सकती है कि इस क्षेत्र में भी तमिळ का भविष्य उज्ज्वल होगा।

: ९ :

उपसंहार

पिछले अध्यायों में तमिळ-साहित्य के गत ढाई हजार वर्ष के इतिहास की हल्की-सी रूप-रेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया। इसमें विशेष रूप से स्वस्थ साहित्यिक प्रवृत्तियों पर ही प्रकाश डाला गया। परन्तु आज के साहित्य के सम्बन्ध में चर्चा करते समय कुछ ऐसी प्रवृत्तियों का उल्लेख करना आवश्यक है, जो साहित्यिक वातावरण को विषाक्त बना रही हैं। इनमें सर्वप्रथम उल्लेखनीय है जातीयता की प्रवृत्ति। गत पचास वर्षों से ब्राह्मण-अब्राह्मण के झगड़े के रूप में यह प्रवृत्ति राजनीतिक क्षेत्र पर हावी रही। महत्त्वाकांक्षी राजनीतिज्ञ अपना स्वार्थ साधने के लिए लोगों में इस प्रकार के जाति-भेद के विषैले बीज बोते रहे। उसका परिणाम आज यह देखने में आ रहा है कि साहित्य पर भी उसकी जहरीली छाया पड़ने लगी है।

ब्राह्मण-अब्राह्मण के आर्थिक एवं सामाजिक प्रश्न को आर्य-द्राविड-समस्या का रूप देकर उसकी आड़ में जनता की राष्ट्रीय एकता की भावना को नष्ट करने का प्रयत्न इधर कुछ वर्षों से तमिळ के कुछ लेखकों द्वारा किया जा रहा है। आज के जमाने में, जब कि विज्ञान एवं इतिहास के विशेषज्ञों द्वारा यह सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है कि आर्य एवं द्राविड के रूप में

पृथक् नृ-वंशों की कल्पना सर्वथा निराधार है, अपने को विचारशील मानने वाले कुछ लेखकों द्वारा यह राग अलापना कि दक्षिण के सभी अब्राह्मण द्राविड़ हैं और सभी ब्राह्मण एवं उत्तर के लोग आर्य; कितना दयनीय मति-भ्रम है ! इस प्रकार के लेखक, अपने को तथाकथित 'द्राविड़स्तान' के 'गोयबेल्स' और 'इक़बाल' समझ रहे हैं।

यद्यपि इस ढंग के लेखकों की संख्या बहुत कम है, फिर भी जन-साधारण पर उनका प्रभाव दिनानुदिन बढ़ता प्रतीत हो रहा है। यह हर्ष की बात है कि राष्ट्र-हितैषी विद्वान् समस्या का सही रूप जनता के सामने प्रस्तुत करके इस विद्वेष-प्रचार का प्रतिरोध करने की ओर ध्यान देने लगे हैं। पर वर्तमान स्थिति में यह कार्य अत्यन्त कठिन प्रतीत हो रहा है ।

'सैक्स' की प्रवृत्ति—आज के तमिळ-साहित्य की एक और अवांछनीय प्रवृत्ति 'सैक्स' से सम्बन्धित है। पाश्चात्य भाषा-साहित्य के कुप्रभाव से तमिळ के कुछ अधकचरे लेखक हर गोपनीय विषय की खुली और कुरुचिपूर्ण चर्चा को ही 'निर्बाध कलाकारिता' समझने लगे हैं। तुर्रा यह कि ऐसे लेखकों में न कोई कला है और न भाषा पर ही उनका अधिकार है। मनुष्य की दुर्बलताओं का अनुचित लाभ उठाना और उसकी कुवासनाओं को भड़काना इन लेखकों का पेशा-सा बन गया है ।

इस लहजे में कुछ सचित्र मासिक एवं पाक्षिक पत्र भी अंग्रेज़ी के 'ट्रू स्टोरी' मैगज़ीनों की देखा-देखी शुरू किये गए। क़ानून का उल्लंघन करने के अभियोग में सरकार ने इनमें से कुछ को समाप्त कर दिया, पर अब भी कुछ ऐसे पत्र चल रहे हैं जो क़ानून की सीमा के अन्दर अधिक-से-अधिक कुवासना फैलाने में उत्साह पूर्वक लगे हैं ।

अंग्रेज़ी और फ्रांसीसी लेखकों के इस प्रकार के 'उत्कृष्ट' साहित्य के अनुवाद तथा छायानुवाद आदि की भी अविरल धारा चल रही है। इस प्रकार के साहित्य का, युवा पाठकों पर कितना हानिकारक प्रभाव पड़ सकता है और पड़ रहा है यह बताने की आवश्यकता नहीं ।

वास्तव में यह भारत-भर की समस्या है, अतः इसका उन्मूलन तभी

: ९ :

उपसंहार

पिछले अध्यायों में तमिळ-साहित्य के गत ढाई हजार वर्ष के इतिहास की हल्की-सी रूप-रेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया। इसमें विशेष रूप से स्वस्थ साहित्यिक प्रवृत्तियों पर ही प्रकाश डाला गया। परन्तु आज के साहित्य के सम्बन्ध में चर्चा करते समय कुछ ऐसी प्रवृत्तियों का उल्लेख करना आवश्यक है, जो साहित्यिक वातावरण को विषाक्त बना रही हैं। इनमें सर्वप्रथम उल्लेखनीय है जातीयता की प्रवृत्ति। गत पचास वर्षों से ब्राह्मण-अब्राह्मण के झगड़े के रूप में यह प्रवृत्ति राजनीतिक क्षेत्र पर हावी रही। महत्त्वाकांक्षी राजनीतिज्ञ अपना स्वार्थ साधने के लिए लोगों में इस प्रकार के जाति-भेद के विषैले बीज बोते रहे। उसका परिणाम आज यह देखने में आ रहा है कि साहित्य पर भी उसकी जहरीली छाया पड़ने लगी है।

ब्राह्मण-अब्राह्मण के आर्थिक एवं सामाजिक प्रश्न को आर्य-द्राविड-समस्या का रूप देकर उसकी आड़ में जनता की राष्ट्रीय एकता की भावना को नष्ट करने का प्रयत्न इधर कुछ वर्षों से तमिळ के कुछ लेखकों द्वारा किया जा रहा है। आज के जमाने में, जब कि विज्ञान एवं इतिहास के विशेषज्ञों द्वारा यह सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है कि आर्य एवं द्राविड के रूप में

पृथक् नृ-वंशों की कल्पना सर्वथा निराधार है, अपने को विचारशील मानने वाले कुछ लेखकों द्वारा यह राग अलापना कि दक्षिण के सभी अब्राह्मण द्राविड़ हैं और सभी ब्राह्मण एवं उत्तर के लोग आर्य; कितना दयनीय मति-भ्रम है! इस प्रकार के लेखक, अपने को तथाकथित 'द्राविड़स्तान' के 'गोयबेल्स' और 'इक़बाल' समझ रहे हैं।

यद्यपि इस ढंग के लेखकों की संख्या बहुत कम है, फिर भी जन-साधारण पर उनका प्रभाव दिनानुदिन बढ़ता प्रतीत हो रहा है। यह हर्ष की बात है कि राष्ट्र-हितैषी विद्वान् समस्या का सही रूप जनता के सामने प्रस्तुत करके इस विद्वेष-प्रचार का प्रतिरोध करने की ओर ध्यान देने लगे हैं। पर वर्तमान स्थिति में यह कार्य अत्यन्त कठिन प्रतीत हो रहा है।

'सैक्स' की प्रवृत्ति—आज के तमिळ-साहित्य की एक और अवांछनीय प्रवृत्ति 'सैक्स' से सम्बन्धित है। पाश्चात्य भाषा-साहित्य के कुप्रभाव से तमिळ के कुछ अधकच्चरे लेखक हर गोपनीय विषय की खुली और कुरुचि-पूर्ण चर्चा को ही 'निर्बाध कलाकारिता' समझने लगे हैं। तुर्रा यह कि ऐसे लेखकों में न कोई कला है और न भाषा पर ही उनका अधिकार है। मनुष्य की दुर्बलताओं का अनुचित लाभ उठाना और उसकी कुवासनाओं को भड़काना इन लेखकों का पेशा-सा बन गया है।

इस लहजे में कुछ सचित्र मासिक एवं पाक्षिक पत्र भी अंग्रेज़ी के 'ट्रू स्टोरी' मैगज़ीनों की देखा-देखी शुरू किये गए। क़ानून का उल्लंघन करने के अभियोग में सरकार ने इनमें से कुछ को समाप्त कर दिया, पर अब भी कुछ ऐसे पत्र चल रहे हैं जो क़ानून की सीमा के अन्दर अधिक-से-अधिक कुवासना फैलाने में उत्साह पूर्वक लगे हैं।

अंग्रेज़ी और फ्रांसीसी लेखकों के इस प्रकार के 'उत्कृष्ट' साहित्य के अनुवाद तथा छायानुवाद आदि की भी अविरल धारा चल रही है। इस प्रकार के साहित्य का, युवा पाठकों पर कितना हानिकारक प्रभाव पड़ सकता है और पड़ रहा है यह बताने की आवश्यकता नहीं।

वास्तव में यह भारत-भर की समस्या है, अतः इसका उन्मूलन तभी

सम्भव है जब कोई देश-व्यापी व्यवस्था की जाय।

अन्त में आज की तमिळ-गद्य-शैली के सम्बन्ध में दो शब्द लिखना अप्रासंगिक न होगा जैसा कि पिछले अध्याय में बताया जा चुका है, तमिळ में गद्य-रचना १२वीं शताब्दी के आस-पास, टीका-ग्रन्थों के रूप में विकसित हुई। अंग्रेजी के सम्पर्क में आने के बाद उसमें नई जान आई।

पर शुरू-शुरू में तमिळ के गद्य-लेखकों ने १२वीं शताब्दी के टीका-कारों की ही शैली का अन्धानुकरण किया। ऐसे शब्दों एवं वाक्यांशों का प्रयोग करना, जो जन-साधारण की बोल-चाल से सदियों पहले लुप्त हो चुके थे, पाण्डित्य का चिह्न समझा जाता था। 'विशुद्ध तमिल' का नारा भी इन्हीं दिनों बुलन्द किया गया। ऐसे संस्कृत-शब्दों का भी बहिष्कार किया जाने लगा, जो सदियों से प्रयुक्त होने के कारण तमिळ-वाङ्मय के आन्तरिक अंग बन चुके थे। महाकवि सुब्रह्मण्य भारती-जैसे दूरदर्शी मनीषियों ने इस प्रवृत्ति का उग्र विरोध किया और जन-भाषा लिखने की प्रेरणा लोगों को दी। धीरे-धीरे पण्डित लोग भी सरल तथा सुबोध भाषा लिखने की आवश्यकता एवं औचित्य को समझने लगे। फलतः आजकल तमिल की गद्य-शैली की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सरलता है।

इधर कुछ वर्षों से एक-दूसरे प्रकार की दुर्बलता तमिळ-गद्य में आ गई है। आजकल के अधिकांश तमिळ-लेखक अंग्रेजी-शिक्षित हैं। फलतः उन पर अंग्रेजी-गद्य-शैली एवं वाक्य-रचना का प्रभाव बहुत है। दूसरी ओर तमिळ के प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्य का उनका ज्ञान नहीं के बराबर होता है। परिणाम यह होता है कि वाक्य-रचना और शैली में वह अंग्रेजी का अन्धानुकरण करते हैं। युवा लेखकों में यह कमजोरी सबसे अधिक पाई जाती है। इस साधारण नियम के अपवाद भी बहुत हैं। यह आशा की जा सकती है कि अंग्रेजी का प्रभाव ज्यों-ज्यों कम होता जायगा, त्यों-त्यों यह कमी भी दूर हो जायगी।